प्रशमरति प्रकरण
का
समालोचनात्मक अध्ययन

लेखक
डॉ० मंजुबाला

प्राकृत विद्यापीठ वैशाली

प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान
बासोकुण्ड, वैशाली (मुजफ्फरपुर)

प्राकृत जैन शोध संस्थान ग्रन्थमाला संख्या : ४५

सम्पादन-प्रमुख
डॉ० युगल किशोर मिश्र
निदेशक

प्रशमरति प्रकरण का समालोचनात्मक अध्ययन

लेखक
डॉ० मंजुबाला

प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान
बासोकुण्ड, मुजफ्फरपुर

© सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

प्रकाशक :

प्राकृत जैनशास्त्र और अहिंसा शोध संस्थान,
बासोकुण्ड, मुजफ्फरपुर की ओर से डॉ० युगल किशोर मिश्र,
एम० ए० (त्रय), बी० एल०, पी० एच० डी०, निदेशक द्वारा प्रकाशित

प्रथम संस्करण : सन् १९९७ ई०

मुद्रक :
रत्ना ऑफसेट्स लिमिटेड, बी. २१/४२ ए. कमच्छा, वाराणसी द्वारा मुद्रित

The Government of Bihar established the Research Institute of Prakrit, Jainology and Ahimsa at Vaishali in 1955 with the object,interalia, to promote advanced studies and research in Prakrit and Jainology and to publish works of permanent value to scholars. This Institute is one of the six Research Institues being run by the Government of Bihar. The five others are:(i) Mithila Institute of Post-Graduate Studies and Research in Sanskrit Learning at Darbhanga; (ii) Kashi Prasad Jayaswal Research Institute for research in ancient, medieval and modern Indian History at Patna; (iii) Bihar Rastrabhasa Parishad for Research and Advanced Studies in Hindi at Patna; (iv) Nava Nalanda Mahavihar for Research and Post-Graduate studies in Buddhist Learning and Pali at Nalanda and(v) Institute of Post-Graduate Studies and Research in Arabic and Persian Learning at Patna.

As part of this Programme of rehabilitating and reorientating ancient learning and scholarship, this is the Research Vol.No.45 which is the Ph.D. thesis of Dr. Manjubala approved by the BRA Bihar Univarsity, Muzaffarpur. Government of Bhiar hope to continue to sponsor such projects and trust that this humble service to the world of scholarship and learning would bear fruit in the fullness of time.

वक्तव्य

प्रशमरति प्रकरण श्लोक-शैली में लिखी गई संस्कृत भाषा में निबद्ध पद्यात्मक रचना है, जिसका प्रतिपाद्य विषय मुनि-आचार है। प्रशमरति का अभिधार्थ आसक्ति से निवृत्ति है। संसारासक्ति से निवृत्ति तथा मोक्ष की प्राप्ति ही मुनि का लक्ष्य होता है। इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्ररुपी त्रिरत्न का विधान है। त्रिरत्न की अवस्थाओं में अन्तर्निहित सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन जिस प्रकार तत्वार्थसूत्र में सूत्र-शैली में प्रणीत है, उसी प्रकार वह प्रशमरति प्रकरण में श्लोकबद्ध शैली में ग्रथित है। यह ध्यातव्य है कि तत्त्वार्थसूत्र, तत्त्वार्थभाष्य तथा प्रशमरति प्रकरण एक ही आगमिक परम्परा के एक ही लेखक वाचक उमास्वाति द्वारा आनुपूर्व क्रम में रचित आगम-ग्रन्थ माने गये हैं।

प्रस्तुत कृति में विदुषी लेखिका ने **प्रशमरति प्रकरण** ग्रन्थ में प्रतिपादित जैन तत्त्वज्ञान एवं आचार-विषयक दार्शनिक सिद्धान्तों का विश्लेषणात्मक अनुशीलन उपस्थित कर इस ग्रन्थ की दार्शनिक उपादेयता को रेखांकित किया है। आशा है, जैन तत्त्व के जिज्ञासु पाठक-वर्ग इससे लभान्वित होंगे।

बासोकुण्ड, मुजफ्फरपुर
११ अक्टूबर, १९९७ ई०

डॉ० युगल किशोर मिश्र
सम्पादन-प्रमुख

प्राक्कथन

प्रत्येक मनुष्य सुख की अभिलाषा करता है और उसकी प्राप्ति के लिए यत्नशील भी रहता है। जबकि मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति बाह्य एवं ऐन्द्रिक है वह अपने दैनिक जीवन में अपनी साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए दृश्य जगत के आपाततः प्रतीयमान स्वरुप से ही संतुष्ट रहा करता है। जीवन में कठिनतम परिस्थितियों के आगमन पर ही उसके मन-कुहर में समस्याओं का जन्म होता हैं । इन्हीं समस्याओं के निराकरण के क्रम में वह विभिन्न महान् आत्माओं की शरण में जाता है अथवा उनके द्वारा विरचित ग्रन्थों के आधार पर उनके जीवन-चरित्र तथा इनके सिद्धांतों का अवलोकन करता है । प्रस्तुत निबंध इसी प्रकार की प्रेरणा का परिणाम है।

भारतीय दर्शनों में कतिपथ प्रश्नों एवं उनके समाधान का दिग्दर्शन हमें स्पष्ट ढंग से प्राप्त होता है। अतएव प्रबुद्ध समाज में लौकिक और लोकोत्तर अनेक सार्थक-निरर्थक सभी बातों पर चिन्तन की प्रवृत्ति उत्पन्न हुए बिना नहीं रहती। यह लोक क्या है? इसकी उत्पत्ति कैसे, क्यों और कब हुई? यह सादि है या अनादि? कृत है या अकृत? फिर इसमें जीव की सत्ता कैसी है? ज्ञान क्या है? आत्मा और ज्ञान का संबंध एकत्व का है अथवा अन्यत्व का? इन्द्रिय और अतीन्द्रिय सुख क्या है? द्रव्य, गुण तथा पर्याय क्या है? इनका संबंध कैसा है? मोक्ष क्या है तथा इसके साधन क्या है? इत्यादि अनेक ऐसे प्रश्न उठते हैं जिनके उत्तर की खोज से दार्शनिक चिन्तन तथा सत्य की अनुभूति के लिए साधनामय जीवन प्रकट होता है। अति प्राचीन काल से ही भारतीय महार्षियों, यतियों, मुनियों एवं श्रमणों ने अपने समस्त जीवन को ऐसे किसी परम सत्य की खोज एवं उपलब्धि में लगा दिया जिनकी अनुभूतियों में सभी समस्याओं का समाहार और समाधान तो प्रकट हुआ ही, उनके अनुसरण से जीवन की परमपूर्णता भी सम्भावित हुई। ऐसे ही परम मनीषियों में अहिंसावतार चरम तीर्थंकर भगवान महावीर भी एक थे, जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन संसार के परम सत्य की खोज में लगा दिया और अन्ततः संसार-सागर का मंथन कर सृष्टि के आधार-भूत सत्य की खोज कर अध्यात्मवाद को नया स्वर दिया जिसे मुखरित करने का कार्य उमास्वाति ने किया। ऐसे जैनागम-मर्मज्ञ आचार्य उमास्वाति के वैराग्य विषयक अपूर्व ग्रन्थ प्रशमरति प्रकरण को मैंने शोध-प्रबन्ध का विषय बनाया जो मूर्त्त रुप पाकर बिहार विश्वविद्यालय की पी० एच० डी० शोधोपाधि के योग्य सिद्ध हुआ।

इस शोध-प्रबन्ध की संरचना निम्नांकित अध्यायों में विभक्त कर की गई । भूमिका के रुप में प्रथम अध्याय में प्रस्तुत है ग्रन्थ-ग्रन्थाकार, उसकी टीकाएँ एवं टीकाकार का प्रामाणिक परिचय तथा वैराग्य विषय साहित्य में प्रशमरति प्रकरण का स्थान । दूसरा अध्याय तत्त्वमीमांसा से संबंधित है जिसमें तत्व के साथ ही द्रव्य स्वरुप एवं उसके भेद-प्रभेद का विचार किया गया है। तीसरा अध्याय आचार-मीमांसा है जिसमें मुनि एवं श्रावक के पालन करने योग्य आचारों का नियमपूर्वक कथन किया गया है। चौथे अध्याय में जीव-बंध की प्रक्रिया एवं उसके हेतु का विश्लेषणात्मक परिचय प्रस्तुत किया गया है। पाँचवाँ अध्याय मोक्ष अध्याय मोक्ष-विमर्श से संबंधित है जिसमें मोक्ष के स्वरुप एवं प्राप्ति के उपाय का वर्णन विस्तार पूर्वक हुआ है। अंतिम अध्याय उपसंहार के रुप में प्रस्तुत है जिसमें शोध-प्रबंध का समेकित सार वर्णित है।

इस शोध-प्रबन्ध के पर्यवेक्षक, डॉ० लाल चन्द जैन के प्रति मैं अपना हार्दिक आभार व्यक्त करती हूँ जिनके सम्यक् मार्ग दर्शन एवं आर्शीवचन से मेरा यह शोध-प्रबंध तैयार हो सका। मैं अपने जीवन-सहयोगी पति डॉ० विश्वनाथ चौधरी, अध्यक्ष, प्राकृत विभाग, वर्द्धमान महावीर महाविद्यालय, पावापुरी के प्रति भी हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने मुझे हर तरह का प्रोत्साहन देकर शोध-संरचना में सहयोग दिया । शोध-कार्य के क्रम में पूज्यनीयां श्रीमती जैनमति जैन, एम० ए० (प्राकृत-जैनशास्त्र) का जो वात्सल्यमय भाव प्राप्त हुआ है, इसके लिए मैं उनकी हृदय से आभारी हूँ। प्राकृत शोध-संस्थान के प्रधान लिपिक, पुस्तकालयाध्यक्ष, प्रकाशन-शास्त्री एवम् कर्मचारियों का भी प्रत्यक्ष-परोक्ष रुप से हमें सहयोग मिला है, जिसके लिए मै उन सबकी आभारी हूँ। मैं अपने सभी गुरुजनों, शुभेच्छुओं, सहयोगियों एवं मित्रों के प्रति भी अपार कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ।

इस शोध-प्रबन्ध को ग्रन्थाकार देने का श्रेय संस्थान के कर्मठ निदेशक एवं विद्वान् डॉ युगल किशोर मिश्र को है, जिन्होंने हमारे श्रम को सार्थक किया है । मैं उनके प्रति हृदय से आभार व्यक्त करती हूँ ।

डॉ० मंजुबाला

विषय-सूची

प्रधान सम्पादकीय

प्राक्कथन

प्रथम अध्यायः भूमिका	१-२१
☛ (क) ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार	०१
☛ (ख) टीकाएं एवं टीकाकार	१६
☛ (ग) वैराग्य विषयक साहित्य में प्रशमरति प्रकरण का स्थान	२०
द्वितीय अध्याय : तत्त्व-मीमांसा	२५-४६
☛ (क) तत्त्व-विमर्श	२५
☛ (ख) द्रव्यस्वरुप-भेद-विमर्श	३३
तृतीय अध्याय : आचार-मीमांसा	५६-७६
चतुर्थ अध्याय : जीव-बंध की प्रक्रिया एवं हेतु	८८-६७
पञ्चम अध्याय : मोक्ष-विमर्श	१०२-१११
षष्ठम अध्याय : उपसंहार	११४-११७
सन्दर्भ ग्रन्थ सूची	११६-१२४

प्रथम अध्याय

भूमिका

(क) ग्रन्थ एवं ग्रन्थकार :

ग्रन्थकार का परिचय

प्रशमरति प्रकरण नामक ग्रन्थ के लेखक के विषय में यहाँ गम्भीरता से विचार करना होगा। यद्यपि ऐसी मान्यता है कि प्रशमरति प्रकरण के रचयिता आचार्य उमास्वाति हैं। लेकिन यहाँ प्रश्न होता है कि क्या सभाष्यतत्वार्थाधिगमसूत्र के रचयिता आचार्य उमास्वाति ही इसके रचयिता हैं या अन्य दूसरे कोई उमास्वाति नाम के आचार्य जैन परम्परा में हुए हैं जो इसके कर्त्ता हैं? हमारी इस शंका का आधार यह है कि जिस आचार्य ने सूत्ररूप में अपनी कृति की रचना की थी, उसने इस कारिकाबद्ध ग्रन्थ की रचना क्यों की ? यहाँ यह उल्लेखनीय है कि तत्वार्थसूत्र की विषयवस्तु एवं प्रशमरति प्रकरण के विषयवस्तु में पर्याप्त अन्तर नहीं है। अन्तर होने पर भी तत्वार्थसूत्र की तरह इसे भी सूत्ररुप में उन्होंने इसकी रचना क्यों न की जबकि आचार्य उमास्वाति का जो काल निर्धारण किया जाता है, वह समय सूत्रकाल माना जाता है। एक बात यह है कि आचार्य उमास्वाति श्वेताम्बर परम्परा में बहुचर्चित आचार्य माने गये हैं। यद्यपि उमास्वाति उमास्वामी के नाम से दिगम्बर परम्परा में भी प्रसिद्ध हैं, लेकिन दिगम्बर परम्परा इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं है कि तत्वार्थसूत्र पर इन्हीं उमास्वामी ने भाष्य लिखा है, जिसने तत्वार्थसूत्र की रचना की थी। इस परम्परा में यह भी प्रसिद्ध है कि तत्वार्थसूत्र पर भाष्य लिखनेवाले कोई दूसरे ही आचार्य हुए हैं। यदि इस मत को स्वीकार कर लिया जाए तो तत्वार्थसूत्र के कर्त्ता उमास्वाति या उमास्वामी प्रशमरति प्रकरण के सृजक नहीं हो सकते हैं।

प्रशमरति प्रकरण के टीकाकार आचार्य हरिभद्र सूरि ने भी अपनी टीका में इस बात का उल्लेख नहीं किया है कि उमास्वाति विरचित प्रशमरति प्रकरण पर ही उन्होंने टीका लिखी है। यदि सभाष्यतत्वार्थाधिगमसूत्र के रचयिता आचार्य उमास्वाति प्रशमरति प्रकरण के कर्त्ता

होते तो आचार्य हरिभद्र उनका अवश्य किसी न किसी रूप में नाम उल्लेख करते, किन्तु, ऐसा नहीं हुआ हैं। इससे इस बात की पुष्टि होती है कि प्रसिद्व ग्रन्थ सभाष्यतत्वार्थधिगमसूत्र के रचयिता की यह कृति है।

प्रशमरति प्रकरण पर हरिभद्रीय टीका के अतिरिक्त अन्य जो भी टीकाएं और अवचूरियाँ लिखी गयी हैं उनमें से केवल एक अवचूरि प्राप्त हुई है। इसके रचयिता कौन हैं, यह भी अवचूरि से ज्ञात नहीं होता है। इस अवचूरि में लिखा गया है कि 'उमास्वाति वाचका:-प्रशमरति प्रकरणं [1] । इससे सिद्ध होता है कि सभाष्यतत्वार्थाधिगमसूत्र की कारिकाओं और प्रशमरतिप्रकरण की कारिकाओं की भाषा - तुलना की समानता के आधार पर कहा जा सकता है कि दोनों ग्रन्थ के लेखक एक ही हैं। पं० नाथूराम प्रेमी ने भी कहा है-प्रशमरतिप्रकरण की तत्वार्थ-भाष्य के साथ बहुत समानता है। कहीं-कहीं दोनों के शब्द और भाषा बिल्कुल मिलते-जुलते हैं। भाष्य के प्रारम्भ और अन्त की कारिकाओं की रचना शैली भी प्रशमरति प्रकरण जैसी ही है। इसके सिवाय प्रशमरति प्रकरण की एक कारिका (25 वीं) जयधवालाकार ने भी उद्धृत की है। [2] आचार्य सिद्धसेन अपनी तत्वार्थसिद्धभाष्य-वृत्ति में प्रशमरतिप्रकरण को उमास्वाति वाचक की रचना माना है। [3] निशीथचूर्णि के कर्ता श्री जैनदास महत्तर ने भाष्यतत्वार्थाधिगमसूत्रे और प्रशमरति प्रकरण की कारिकाओं को उद्धृत करते हुए दोनों ग्रन्थों को आचार्य उमास्वाति की रचना बतलाया है। [4]

जैन धर्म के आधुनिक विद्वान् पं० सुखलाल संघवी ने तत्वार्थसूत्र की प्रस्तावना में लिखा है कि जिसे उमास्वाति की कृति मानने में संदेह का अवकाश नहीं, उस प्रशमरति प्रकरण ग्रन्थ में मुनि के वस्त्र, पात्र का व्यवस्थित निरुपण है, जिसे श्वेताम्बर परम्परा निर्विवाद रुप से स्वीकार करती है। [5]

उपर्युक्त मतों और प्रमाणों के आधार पर सिद्ध होता है कि प्रशमरति प्रकरण वाचक उमास्वाति की रचना है। उक्त प्रमाण एक ही सम्प्रदाय के आचार्य और विद्वानों द्वारा प्रस्तुत किया गया है। परन्तु दूसरी (दिगम्बरी) परम्परा इस संबंध में उनके तर्कों को मानने के लिए तैयार नहीं है।

इस प्रकार मैं अपने अनुसंधान के आधार पर यह कह सकती हूँ कि भले ही श्वेताम्बर परम्परा तत्वार्थसूत्र के रचयिता उमास्वाति को ही इसका कर्त्ता माने, लेकिन मैं शंकाशील हूँ और इस ओर गहन एवं स्वतंत्र अनुशीलन की अपेक्षा होगी। पुनरपि बाधक प्रमाणों के अभाव में पंडित सुखलाल संघवी के मत को आधार मानकर प्रशमरति प्रकरण के कर्त्ता के रुप में आचार्य उमास्वाति को ही मानना उपयुक्त है।

उमास्वाति का व्यक्तित्व :

उपलब्ध समग्र जैन वाङ्मय के इतिहास के अध्ययन से यह स्पष्ट पता चलता है कि जैनाचार्यों में उमास्वाति ही प्रथम संस्कृत भाषा के लेखक हैं। उनके ग्रन्थों की संक्षिप्त और

शुद्ध शैली, संस्कृत भाषा पर उनके एकाधिकार और प्रभुत्व की साक्षी है। जैनागम में प्रसिद्ध ज्ञान, ज्ञेय, आचार, भूगोल, खगोल आदि से सम्बद्ध बातों का संक्षेप में जो संग्रह इन्होंने सभाष्य-तत्वार्थाधिगमसूत्र में किया है, वह इनके वाचक वंश में होने का और वाचक पद की यथार्थता का प्रमाण है। उनके तत्वार्थभाष्य की प्रारम्भिक कारिकाओं और दूसरी गद्य कृतियों से स्पष्ट है कि वे गद्य की तरह पद्य के भी प्रांजल लेखक हैं। इनके सभाष्य सूत्रों के सूक्ष्म अवलोकन से जैनागम सम्बन्धी इनके सर्वग्राही अध्ययन के अतिरिक्त वैशेषिक, न्याय, योग और बौद्ध आदि दार्शनिक साहित्य की प्रतीति होती है। तत्वार्थभाष्य (1-5, 2-15) में उद्धृत व्याकरण के सूत्र पाणिनीय व्याकरण विषयक अध्ययन के परिचायक हैं।

दिगम्बर परम्परा में इनको 'श्रुत केवलि देशीय' कहा गया है।[6] तत्वार्थसूत्र से भी उनके ग्यारह अंग विषयक श्रुतज्ञान की प्रतीति होती है। इन्होंने विरासत में प्राप्त अर्हतश्रुत के सभी पदार्थों का संग्रह तत्वार्थ सूत्र में किया है, एक भी महत्वपूर्ण बात इन्होंने बिना कथन किए नहीं छोड़ी। इसी कारण आचार्य हेमचन्द्र संग्रहकार के रुप में उमास्वाति को सर्वोत्कृष्ट आंकते हैं।[7] इनकी इन्हीं योग्यताओं से आकृष्ट होकर श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों तरह के विद्वान् इनके तत्वार्थसूत्र की व्याख्या करने के लिए प्रेरित हुए हैं।

उपर्युक्त विवेचनों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि आचार्य उमास्वाति जैनदर्शन तथा तत्कालीन समस्त भारतीय धार्मिक-दार्शनिक साहित्य के कुशल मर्मज्ञ हैं।

सम्प्रदाय :

उमास्वाति को दोनों जैन परम्पराएँ समान श्रद्धा की दृष्टि से मानती हैं। लेकिन ये किस परम्परा के हैं, इस विषय में मतभेद है। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो परम्पराएँ इन्हें अपने-अपने सम्प्रदाय के होने का दावा करती हैं। पंडित सुखलाल संघवी ने तत्वार्थसूत्र की भूमिका में इस विषय पर विस्तृत चर्चा की है। उमास्वाति दिगम्बर परम्परा के नहीं हैं,इसे सिद्ध करने के लिए इन्होंने निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किए है[8]:

1. प्रशस्ति में उल्लिखित उच्च नागर शाखा या नागर शाखा का दिगम्बर सम्प्रदाय में होने का एक भी प्रमाण नहीं मिलता।

2. काल किसी के मत में वास्तविक द्रव्य है,ऐसे सूत्र (5-38) और उसके भाष्य का वर्णन दिगम्बर मत (5-39) के विरुद्ध है। केवली में (9-11) ग्यारह परीषह होने का सूत्र और भाष्यगत सीधी मान्यता एवम् भाष्यगत वस्त्रपात्र आदि का स्पष्ट उल्लेख भी दिगम्बर परम्परा के विरुद्ध है (9-5, 9-7, 9.26)। सिद्धों में लिंग द्वार और तार्थोद्वार का भाष्यगत वक्तव्य दिगम्बर परम्परा के विरुद्ध है।

3. भाष्य में केवलज्ञान के पश्चात् केवली के दूसरा उपयोग मानने न मानने का जो मन्तव्य भेद (1-31) है, वह दिगम्बर ग्रन्थों में दिखाई नहीं देता।

इसके साथ ही संघवी जी ने उमास्वाति को श्वेताम्बर परम्परा का सिद्ध करने के लिए जिन युक्तियों को प्रस्तुत किया है, वे उन्हीं के शब्दों में निम्न प्रकार हैं [9]:

(क) प्रशस्ति में उल्लिखित उच्च नागर शाखा श्वेताम्बर पट्टावली में मिलती है।

(ख) अमुक विषय संबंधी मतभेद या विरोध बतलाते हुए भी कोई ऐसे प्राचीन या अर्वाचीन श्वेताम्बर आचार्य नहीं हुए हैं जिन्होंने दिगम्बर आचार्यों की भांति भाष्य को अमान्य कहा है।

(ग) जिसे उमास्वाति की कृति मानने में संदेह का अवकाश नहीं, इस प्रशमरति प्रकरण ग्रन्थ में मुनि के वस्त्र-पात्र का व्यवस्थित निरूपण है, जिसे श्वेताम्बर परम्परा निर्विवाद रुप से स्वीकार करती है।

(घ) उमास्वाति के वाचक वंश का उल्लेख और उसी वंश में होनेवाले अन्य आचार्यों का वर्णन श्वेताम्बर पट्टावलियों, पन्नवणा और नन्दी की स्थविरावली में मिलता है। पंडित कैलाशचन्द्र शास्त्री संघवी के उपर्युक्त तर्कों से सहमत नहीं हैं। उनका कथन है कि सूत्रों में वे कोई ऐसे सबल प्रमाण उपस्थित नहीं कर सके जिनसे इसके रचयिता श्वेताम्बर परम्परा का ही सिद्ध हैं। प्रस्तुत सूत्रों में कई ऐसी बातें हैं जो श्वेताम्बर परम्परा के प्रतिकूल और दिगम्बर परम्परा के अनुकूल हैं। [10]

वस्तुतः दोनों सम्प्रदायों ने उमास्वाति को अपने अपने सम्प्रदाय में होने के लिए जो तर्क दिए हैं, उनसे यह कहना कठिन हैं कि ये दिगम्बर हैं या श्वेताम्बर। तत्वार्थसूत्र में वर्णित कुछ बातें ऐसी हैं जो एक के प्रतिकूल है तो दूसरे के अनुकूल। अंततः यह कहना असंगत न होगा कि उमास्वाति न तो दिगम्बर हैं और न श्वेताम्बर ही । इन्हें इन दोनों परम्पराओं से भिन्न किसी तीसरी परम्परा का होना चाहिए। अतः अत्यधिक संभावना है कि वे यापनीय सम्प्रदाय के हों, क्योंकि यापनीय सम्प्रदाय में मान्य सिद्धांत तत्वार्थसूत्र में प्रतिपादित सिद्धान्तों से मिलते जुलते हैं।

जन्म-स्थान एवं पारिवारिक परिचय :

उमास्वाति का जन्म कब, कहाँ और किस वंश में हुआ इसका यहां पर विचार करना भी आवश्यक प्रतीत होता है। तत्वार्थसूत्र की प्रशस्ति में उनके जन्म स्थान के रुप में न्यग्रोधिका नामक ग्राम का निर्देश मिलता है। यह स्थान कहाँ है, इसके संबंध में अभी तक कोई प्रमाण नहीं मिला है। लेकिन प्रशस्ति में ही तत्वार्थसूत्र के रचना-स्थान के रुप में कुसुमपुर का निर्देश है। विद्वानों ने बिहार में स्थित आधुनिक पटना को ही कुसुमपुर माना है। इससे प्रतीत होता है कि मगध देश के अन्तर्गत या इसके समीप ही न्यग्रोधिका नामक स्थान रहा होगा। उपर्युक्त प्रशस्ति में इनके पिता का नाम स्वाति और माता का नाम वात्सी बतलाया गया है। ये उच्च नागर शाखा के हैं तथा इनका गोत्र कोभिषनि है। श्वेताम्बरों में ऐसी भी मान्यता दिखलाई देती है कि प्रज्ञापनासूत्र के रचयिता श्यामाचार्य के गुरु हारिनगोत्रीय

स्वाति ही तत्वार्थसूत्र के प्रणेता उमास्वाति हैं। परन्तु, यह मान्यता प्रमाणित नहीं हो सकी है।[11]

दीक्षा एवं विद्यागुरु :

इनके दीक्षा गुरु एवं विद्या गुरु कौन हैं, इस सम्बन्ध में श्वेताम्बर और दिगम्बर विद्वानों ने अलग-अलग मत व्यक्त किये हैं। दिगम्बर विद्वानों के अनुसार इनके गुरु का नाम कुन्दकुन्दाचार्य है। इन्होनें अपने इस कथन की पुष्टि के लिए श्रवणवेलगोल शिलालेख संख्या-209 को प्रमाण के रुप में प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त शुभचंद्राचार्य ने भी उमास्वाति को आचार्य कुन्दकुन्द का ही शिष्य माना है।[12] दिगम्बर विद्वानों ने अपने कथन की पुष्टि में यह भी कहा है कि गृद्ध पिच्छाचार्य उमास्वाति ने कुन्दकुन्दाचार्य का शाब्दिक और वस्तुगत अनुसरण किया है, अतः सिद्ध है कि उमास्वाति कुन्दकुन्द के अन्वय में हुए हैं और वे कुन्दकुन्दाचार्य के शिष्य हैं।

श्वेताम्बर मान्यता-प्राप्त तत्वार्थसूत्र की प्रशस्ति के अनुसार उमास्वाति के दीक्षा गुरु ग्यारह अंग के धारक घोषनन्दी श्रमण हैं और प्रगुरुवाचक मुख्य शिवश्री हैं। इनके विद्या-गुरु मूल नामक वाचकाचार्य और प्रगुरु महावाचक मुण्डपाद हैं। पंडित संघवी ने इसे ही प्रमाणिक माना है और दिगम्बर विद्वानों के मतों के प्रति अपनी असहमति व्यक्त की है।[13]

डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ने संघवी के मत जो तत्वार्थसूत्र की प्रशस्ति पर आधारित है, की समीक्षा अपने तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग 2 में की है। इन्होंने बतलाया है कि पण्डित सुखलाल संघवी का अभिमत गुरु-शिष्य परम्परा तत्वार्थाधिगम भाष्यकार वाचक उमास्वाति की है, तत्वार्थसूत्र के रचयिता गृद्धपृच्छ उमास्वामी की नहीं हैं।

उपर्युक्त विवेचनों से स्पष्ट है कि उमास्वाति की गुरु परम्परा के संबंध में विद्वान् एकमत नहीं हैं। फिर भी श्वेताम्बर मान्यता प्राप्त तत्वार्थसूत्र की प्रशस्ति जो भाष्य के अन्त में उपलब्ध होती है। वह यदि वास्तव में तत्वार्थसूत्रकार की ही रची हुई है,जैसा कि डॉ हर्मन जैकोबी ने भी इस प्रशस्ति को उमास्वाति की ही रचना माना है,[14] तो श्वेताम्बर मान्यता ही तर्कसंगत प्रतीत होती है।

काल - निर्धारण :

उमास्वाति का काल-निर्धारण भी अत्यधिक विवादास्पद विषय है, क्योंकि उमास्वाति ने स्वयं अपने समय का उल्लेख भी जन्म - स्थानादि की ही तरह नहीं किया है। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराएँ विभिन्न आधार मानकर इनका समय निर्धारण करती हैं।

दिगम्बर मान्यता :

(1) इनका समय नन्दिसंघ की पट्टावली के अनुसार वीर निर्वाण संवत् 571 है, जो कि

विक्रम संवत् 101 आता है। पट्टावली में बतलाया गया है कि उमास्वाति 40 वर्ष 8 महीने आचार्य पद पर रहे। इनकी आयु 84 वर्ष की थी और विक्रम संवत्142 में इनके पट्ट पर लोहाचार्य द्वितीय प्रतिष्ठित हुए [15]।

(2) विद्वज्जन पोषक में उद्धृत एक श्लोक के अनुसार वे कुन्दकुन्द के समकालीन थे तथा इनका समय वीर निर्वाण संवत् 770 (विक्रम संवत् 300) था [16]।

(3) प्रो० हार्नले, डॉ पिटार्सन और डॉ० सतीश चन्द्र ने आचार्य उमास्वाति को ईसा की प्रथम शताब्दी का आचार्य माना है [17]।

(4) डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने बहुत उहापोह के पश्चात् कुन्दकुन्द के समय का निर्णय किया है। इनके अनुसार कुन्दकुन्द का समय ईसा की प्रथम शताब्दी के लगभग है। कुछ विद्वानों का मत है कि आचार्य उमास्वाति कुन्दकुन्द के शिष्य हैं। अतः उमास्वाति का समय भी ईसा के प्रथम शताब्दी के लगभग है [18]।

(5) पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री ने अनेक तर्कों के आधार पर आचार्य उमास्वाति का समय विक्रम की तीसरी शताब्दी के अन्त में माना है [19]।

(6) डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ने पट्टावलियो, प्रशस्तियों और अभिलेखों का अध्ययन कर आचार्य उमास्वाति का समय ई० सन् की द्वितीय शताब्दी निश्चित किया है [20]।

(7) पं० नाथूराम प्रेमी ने आचार्य उमास्वाति के समय-निर्धारण के लिए अनेक तर्क उपस्थित किये हैं। इन्होंने इनका समय ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी माना है [21]।

(8) प्रसिद्ध जर्मन पंडित हैल्मूर ने अपने जैनिज्म नामक ग्रन्थ में इनका समय ईसा की चौथी-पांचवी सदी होने की अधिक संभावना व्यक्त की है [22]।

श्वेताम्बर मान्यता :

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के विद्वान् तत्वार्थभाष्य को सूत्रकार उमास्वाति की रचना मानते हैं। परन्तु, भाष्य की प्रशस्ति में इनके समय का उल्लेख नहीं किया गया है और समय का निर्धारण करनेवाला अबतक दूसरा भी कोई साधन प्राप्त नहीं हुआ है। ऐसी ही स्थिति में पं० सुखलाल संघवी ने तत्वार्थसूत्र की हिन्दी भूमिका में आचार्य उमास्वाति के समय के संबंध में विशद विवेचन कर इनका समय प्राचीनतम काल विक्रम की पहली शताब्दी और अर्वाचीनतम काल तीसरी-चौथी शताब्दी निश्चित किया है[23]। इस लम्बे काल व्यवधान के बीच उमास्वाति का सुनिश्चित काल-अनुसंधान की अपेक्षा रखता है।

उपर्युक्त दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के विद्वानों के मतों का अध्ययन करने से मैं भी इस निष्कर्ष पर पहुँची हूँ कि उमास्वाति का समय ई० सन् द्वितीय के बाद नहीं निर्धारित किया जा सकता, क्योंकि इनके पहले किसी भी जैनाचार्य ने संस्कृतभाषा में सूत्रग्रन्थ की कोई भी रचना नहीं की है। जबतक इससे कोई अन्य सबल प्रमाण उपस्थित नहीं होता, तबतक

आचार्य उमास्वाति का समय विक्रम की तीसरी शताब्दी ही निर्धारित किया जा सकता है जिसे पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री आदि विद्वान् भी मानते हैं। अतः इनका समय विक्रम की तीसरी शताब्दी है।

कृतित्वः

उमास्वाति ने जैन वाङ्गमय को कितनी अमूल्य कृतियों से सम्वर्धित किया, इस विषय में निश्चयपूर्वक कहना संभव नहीं है। लेकिन तत्वार्थसूत्र और तत्वार्थाधिगम भाष्य के विषय में कोई विवाद नहीं है। डॉ० ए० एन० उपाध्ये के अनुसार जम्बु-द्वीप-समास भी उमास्वाति की कृति है [24]। तत्वार्थसूत्र के वृत्तिकार सिद्धसेन ने अपनी वृत्ति में इनके शोधप्रकरण नामक ग्रन्थ का भी उल्लेख किया है [25] जो उपलब्ध नहीं है। पंडित सुखलाल संघवी का मत है कि उमास्वाति ने जम्बु-द्वीप समासप्रकरण, पूजा प्रकरण, श्रावक प्रज्ञप्ति, क्षेत्र विचार, प्रशमरतिप्रकरण आदि 500 ग्रन्थों की रचना की है [26]। किन्तु आज हमारे सामने सभाष्य तत्वार्थाधिगमसूत्र एंव प्रशमरति प्रकरण ही उपलब्ध है। उपर्युक्त प्रमाण के आधार पर यह सिद्ध होता है कि प्रशमरति प्रकरण आचार्य उमास्वाति की अनुपम कृति है जिसका विस्तारपूर्वक विवेचन अपेक्षित है।

प्रशमरतिप्रकरण ग्रन्थ का परिचय :

प्रशमरति प्रकरण नामक मूलग्रन्थ तत्वार्थसूत्र आदि के साथ विब्लियोथिका इण्डिका में सन् 1904 में तथा एक अज्ञात्-कर्तृक टीका के साथ जैन धर्म प्रसारक सभा की ओर से विक्रम संवत 1966 में प्रकाशित की गई है। एक अन्य अज्ञात-कर्तृक टीका और ऐ० वेलिनी के इटालियन अनुवाद के साथ प्रस्तुत कृति जरनल आफ दि इटालियन एसिएटिक सोसाइटी, खंड-२५ में छपी है। इसके साथ ही 1800 श्लोक परिमाण की एक टीका जयसिंह राज्यान्तर्गत अणहिल पाटन नगर में विक्रम सम्वत् 1185 में श्री धवल मांडआलिका के पुत्र यशोनाग नायक के द्वारा अर्पित किये गये उपाश्रय में हरिभद्र ने लिखी है तथा यहीं पर संशोधन भी की है। इसके अतिरिक्त दो अज्ञात-कर्तुक टीकाएँ भी है जिसमें से एक की हस्तलिखित प्रति १४९८ की मिलती है। हरिभद्रीय टीका की प्रशस्ति ३ से ज्ञात होता है कि इसके पहले भी दूसरी टीकाएँ लिखी गयीं थी जो बड़ी थीं। किसी ने इस पर अवचूर्णि भी लिखी है जिसे भी देवचन्द लाल भाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था ने हरिभद्रीय वृत्ति एवं अज्ञातकर्तृक अवचूर्णि के साथ यह कृति वि० सं० 1996 में प्रकाशित की है। इसके अलावे कपूर विजय कृत गुजराती अनुवाद के साथ प्रस्तुत कृति को जैनधर्म प्रसारक सभा ने वि० स० 1988 में प्रकाशित की है। इसके साथ ही प्रो० राजकुमार शास्त्री ने हिन्दी में टीका लिखी है जो मूल एवं हरिभद्रीय टीका के साथ (प्रथम संस्करण) श्री रायचन्द्र जैनशास्त्रमाला, बम्बई में ई० सन् 1950 में ही प्रकाशित हो चुकी है [27]।

ग्रन्थरुप :

प्रशमरति प्रकरण वैराग्य विषयक ग्रन्थ है। इसकी मान्यता जैनधर्म के दोनों सम्प्रदायों में है, इसका उल्लेख धवल टीका में वीरसेनाचार्य ने किया है। इस ग्रन्थ पर दो संस्कृत टीकाएं श्वेताम्बराचार्यों कृत अभी तक मुद्रित हुई हैं। इसमें प्राचीन टीका श्री हरिभद्र सूरि की है। यह टीका जैन धर्म प्रसारण सभा, भावनगर से वीर निर्वाण सं० 2436 में मुद्रित हुई थी, जो अब अप्राप्य है। दूसरी टीका देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार फंड से छपी थी, जो भी अप्राप्य है। जैनशास्त्रमाला से प्रकाशित ग्रन्थ प्राप्य है जिसका अनुवाद स्याद्वाद महाविद्यालय काशी के प्रधानाध्यापक पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री ने शुरु किया था, पर पं० जी को अवकाश न होने से साहित्याचार्य पं० राजकुमारजी शास्त्री ने पूरा किया। पं० राजकुमार शास्त्री जी ने मुद्रित प्रति और 4-5 हस्तलिखित प्रतियों के आधार से मूल और संस्कृत टीका का संशोधन-सम्पादन बड़े परिश्रम से किया है, तथा भाषा टीका भी बहुत सुन्दर और सरल लिखी है। इसके साथ ही ग्रन्थ के अन्त में संस्कृत भाषा में लिखित एक अवचूरि विद्यमान है जिनमें 313 सूत्र हैं। इस प्रकार अवचूरि के आधार पर ही मूल ग्रन्थ को बाईस अधिकारों में विभाजित किया गया हैं [28]।

उद्देश्य :

प्रशमरति प्रकरण नामक ग्रन्थ-रचना का उद्देश्य संसार के भव्य प्राणियों की प्रशमसुख की ओर आकृष्ट कर वैराग्य-प्रीति में दृढ़ करना है ताकि वे भव-समुद्र को पार कर शाश्वत, चिरन्तन, अनुपम, अव्याबाध-अनन्त मोक्ष सुख को प्राप्त कर सकें तथा जन्म-मरण के चक्कर से सदा के लिए मुक्त हो जाँय। इस प्रकार ग्रन्थ-रचना का मुख्य अभिप्राय वैराग्य के प्रेम में मुमुक्ष जीव को स्थिर करना है [29]।

विषय परिचय :

ग्रन्थ की भाषा संस्कृत है। इसमें कुल 313 कारिकाएँ हैं। यहाँ पर श्लोक के स्थान पर कारिका का प्रयोग किया गया है। यह ग्रन्थ निम्न बाईस अधिकारों में विभक्त है [30] जिनका विषय परिचय इस प्रकार है:

1. पीठ बन्धाधिकार :

ग्रन्थ का प्रथम अधिकार पीठ बन्धाधिकार है। सर्वप्रथम ग्रन्थकार ने ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए चौबीस तीर्थंकारों को नमस्कार किया है। दूसरे कारिका के द्वारा इन्होंने पंच परमेष्ठियों को नमस्कार करके जिन शासन के आधार पर ग्रन्थ बनाने का संकल्प लिया है। आगे 33 कारिका में जिनशासन रुपी नगर में प्रवेश करना अल्पज्ञों के लिए अत्यंत दुष्कर बतलाया है। चौथे से सातवें कारिका में अपनी लघुता स्वीकार करते हुए ग्रन्थकार ने वैराग्य मार्ग की पगडंडी रुप इस रचना की प्रतिज्ञा की है।

आठवें से 11 वें का० में वैराग्य विषयक यह ग्रन्थ विद्वानों को कैसे सम्मत होगी- इस आशंका का समाधान करते हुए बतलाया है कि इनकी रचना उत्कृष्ट कोटि की नहीं है, फिर भी इन्होंने दयालु प्रकृतिवाले सज्जनों से इस पर अनुग्रह करने का आग्रह किया है, क्योंकि सज्जन पुरुष दयालु प्रकृति के होते हैं और वे दोषमुक्त वचनों में भी सारभूत गुणों को ही ग्रहण करते हैं। वे जिस वस्तु को भी आदर के साथ ग्रहण कर लेते हैं, वह सारहीन होने पर भी पूर्णमासी चन्द्र बिम्ब में स्थित काले मृग की तरह प्रकाशमान हो जाती है। अर्थात् सज्जनों का आश्रय पाकर यह ग्रन्थ भी उसी प्रकार सुन्दर लगेगी, जिस प्रकार बालक की अस्पष्ट बोली माता-पिता को अत्यन्त प्यारी लगती है।

12 वें से 14 वें कारिका में पूर्वाचार्यों के रचे अनेक ग्रन्थ हैं,फिर भी नये ग्रन्थों का निर्माण क्यों? इसके सामाधान हेतु मंत्र संबंधी दृष्टांत प्रस्तुत कर ग्रन्थकार ने बतलाया है कि तीर्थंकरों, गणधरों आदि ने जिन पदार्थों का विवेचन किया है, उनका बार-बार कथन करना भी उनकी पुष्टि ही करता है। इसलिए इसमें पुनरुक्त दोष नहीं है। जिस प्रकार सठेवित औषध को पीड़ा दूर करने के लिए बार-बार प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार राग से उत्पन्न हुई पीड़ा को दूर करनेवाले उपर्युक्त पदों का बार-बार सेवन करना लाभदायक ही है। उक्त बात की पुष्टि में इन्होंने पुनः बतलाया है कि जिस प्रकार विष को दूर करने के लिए एक ही मंत्र का बार-बार जाप करना दोषयुक्त नहीं है, इसी प्रकार रागरुप विष को घातने वाले विशुद्ध अर्थपद का बारम्बार प्रयोग करने में पुनरुक्त दोष नहीं है। 15वें कारिका में उक्त बातों का समर्थन करते हुए बतलाया है कि जिस प्रकार जीवन-यापन के लिए लोग बार-बार एक ही धंधे करते हैं, उसी प्रकार वैराग्य के हेतु का भी चिन्तन करना सर्वदा अपेक्षित है।

16-17वें कारिका में ग्रन्थकार ने वैराग्य भावना को दृढ करने का निर्देश कर उसके पर्यायवाची शब्दों माध्यस्थ, वैराग्य, विरागिता, शान्ति, उपशम, प्रशम, दोषक्षय, और दोष विजय का उल्लेख किया है और राग रहित को विराग कहा है। 18वें कारिका में इच्छा, मूर्छा, काम, स्नेह, गार्ध्य, ममत्व, अभिलाषा आदि राग के नामान्तर का कथन किया है और 19 वें कारिका में द्वेष के ईर्ष्या, द्वेष, प्रचण्ड आदि-द्वेष संबंधी कारणों पर प्रकाश डालते हुए इन्होंने बतलाया है कि जो राग-द्वेष, मिथ्यात्व, कलुषित बुद्धि, पाँच पापों, कर्ममलों, तीव्र आर्त्त और रौद्र ध्यान के वशीभूत, कार्य-आकार्य में मूढ़, संक्लेश, विशुद्धि स्वरुप से अनिभज्ञ, आहार, भय, परिग्रह, मैथुन, संज्ञा रुपी कलह में संलग्न, आठ प्रकार के क्लिष्ट कर्मों से प्रभावित तथा सैकड़ों गतियों में जन्म-मरण के चक्कर में पड़ा हुआ है, वही आत्मा राग-द्वेष के अधीन होता हुआ कषायवान् है [31]।

2. कषायाधिकार :

इस ग्रन्थ का दूसरा अधिकार कषायाधिकार है। इसके 24 से 30वें कारिका में कषायवान् आत्मा की दशा पर प्रकाश डालते हुए बतलाया गया है कि क्रोध, मान, माया, लोभ आदि भयंकर अनर्थ हैं जिनके पालन करने से क्रमशः प्रीति का नाश, विनय-घात, विश्वास एवं

सर्वस्व नष्ट हो जाता है। अतः ये अत्यन्त दुःखदायी, लोक-परलोक दोनों में हानिकारक, धर्म-अर्थ एवं मोक्ष के अवरोधक तथा संसार-मार्ग के प्रवर्तक होने के कारण हेय हैं। 31 से 33 वीं का० में उक्त कषाय का ममकार और अहंकार दो भागों में वर्गीकरण कर राग-द्वेष की सेना मित्थात्व, अविरति, प्रमाद और योग का उल्लेख किया गया है तथा इन्हें आठ प्रकार के कर्मबन्ध का कारण माना गया है [32]।

3. रागाधिकार

इस ग्रन्थ का तीसरा अधिकार रागाधिकार है। इसके 34 से 35वें कारिका में मूल कर्मबन्ध के ज्ञानावरणादि आठ भेदों एवं उसके उत्तर प्रकृतियों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया हैं ।

4. अष्ट कर्माधिकार :

इसका चौथा अधिकार आठ कर्माधिकार है। इसके 36वें का० में उत्तर प्रकृतियों के एक सौ बाईस भेदों का उल्लेख कर स्थिति बन्ध, अनुभाग बन्ध और प्रदेश बंध की अपेक्षा से प्रकृति बन्ध एवं उदय के तीव्र, मन्द या मध्यम भेदों का कथन किया गया है। 37वें कारिका में बंध के हेतु का वर्णन करते हुए बतलाया गया है कि योग में प्रदेश बंध, कषाय से अनुभाग बंध होता है तथा लेश्या की विशेषता से स्थिति और विपाक में भी विशेषता आती है। आगे 38 वें का० में लेश्या के स्वरुप एवं भेदों का वर्णन कर 39 से 40 वें कारिका में आत्मा के साथ कर्मों के संबंध होने पर नरक गति आदि जैसे दुःखों को भोगना पड़ता है, ऐसा कथन किया गया है [33]।

5. पंचेन्द्रिय विषयाधिकार :

इस ग्रन्थ का पाँचवा अधिकार पंचेन्द्रिय विषयाधिकार है। इसके 41 वें कर्णेन्द्रिय के वशीभूत हिरण के नाश, 42 वें कारिका में चक्षु-इन्द्रिय के वशीभूत कीट-पंतग के नाश का दृष्टांत प्रस्तुत कर 43 वें कारिका में घ्राणेन्द्रिय के वशीभूत भौरे का तथा 44 वें रसेन्द्रिय के वशीभूत मीन के नाश और 45 वें कारिका में स्पर्शेन्द्रिय के वशीभूत हाथी के नाश का दृष्टांत उपस्थित किया गया है। 46 वें उपसंहार के रुप में बतलाया गया है कि इन्द्रिय-वशीभूत प्राणियों की नरकादि योनियों में जाकर नाना प्रकार के व्यसन भोगने पड़ते हैं। आगे 47 वें का० में पाँच इन्द्रियों के वशीभूत असंयमी जीव की दुर्दशा पर प्रकाश डालकर 48 वें कारिका में बतलाया गया है कि विषय का सेवन करने से सदैव तृप्ति नहीं होती है। परिणामवश इष्ट विषय में अनिष्ट तथा अनिष्ट इष्ट हो जाता है। 49 में बताया गया है कि जीव प्रयोजन के अनुसार इन्द्रिय व्यापार करता है। 50 में एक ही विषय प्रयोजन के अनुसार एक के लिए इष्ट है तो दूसरे के लिए अनिष्ट। 51 में यह जीव इन्हीं विषयों से द्वेष करता है और इन्हीं विषयों से राग करते बताया गया है। अतः निश्चय से इसका न कोई इष्ट है और न कोई अनिष्ट है। 52 में रागी-द्वेषी मनुष्य को केवल कर्मबंधहोने तथा इसे लोक-परलोक में किसी गुण की संभावना

नहीं होने की अभिव्यक्ति है। 53 में इन्द्रिय के विषय में इष्ट या अनिष्ट भाव तथा 54 में बन्ध का कारण का उल्लेख है।

आत्मा के प्रदेशों से कर्मपुद्गल किस प्रकार चिपटते हैं, इसका उल्लेख करते हुए 55 वें कारिका में बतलाया गया है कि राग-द्वेषरुप भावों का निमित्त पाकर आत्मा उसी प्रकार चिपट जाती है, जैसे हवा से उड़कर आनेवाले धूलकण चिकनाई का निमित्त पाकर शरीर से चिपट जाते हैं। आगे 56वें कारिका में राग-द्वेष, मोह, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और योग को कर्मबंध का कारण माना गया है और राग-द्वेष को ही संसार परम्परा का जनक बतलाया गया है। 57 के साथ ही कारिका 58 से 80 तक में राग-द्वेष से उत्पन्न हुए संसारचक्र तोड़ने का उपाय बतलाया गया है [34]।

6. अष्टमदाधिकार :

इस ग्रन्थ का छठवाँ अधिकार अष्टमदाधिकार है। इसके 81 से 101 कारिकाओं में आठ मद का कथन किया गया है और बतलाया गया है कि जाति, कुल, रुप, बल, लाभ, बुद्धि, प्रिय एवं श्रुत आठ प्रकार के मद करना बेकार है, क्योंकि ये ह्दय में केवल उन्माद उत्पन्न करने के कारण संसार-वृद्धिकारक हैं। इससे उन्मत्त हुआ मनुष्य इस लोक में पिशाच की तरह दुःखी रहता हुआ परभव में नियम से नीच जाति आदि को प्राप्त होता है। अतः सब मदों का मूल कारण मान कषाय को नाश करके मुनि को स्व-प्रशंसा और पर निन्दा नहीं करना चाहिए अन्यथा भव-भव में नीच गोत्रकर्म का बन्ध होते रहता है और कर्मोदय के कारण नीच जातियों में जन्म लेना पड़ता है। इस प्रकार उक्त रीति से नीच आदि जन्मों एवं कर्मफलों को जानकर महान् वैराग्य उत्पन्न होता है। इस प्रकार 102 से 105वें कारिका में वैराग्य के निमित्त का उल्लेखकर आगम का अभ्यास करना परम एवं श्रेयष्कर बतलाया गया है [35]।

7. आचाराधिकार :

इस ग्रन्थ का सातवाँ अधिकार आचाराधिकार है। इसके 106 वें कारिका में विषय को अनिष्टकारी बतलाया गया है क्योंकि ये विषय प्रारम्भ में उत्सव, मध्य में श्रृंगार और हास्य रस को उद्दीप्त एवं अन्त में वीभत्स, करुणा, लज्जा और भय आदि को करते हैं। 106 में सेवन करते समय विषय मन को सुखकर लगते तथा कृपांक वृक्ष के फल-भक्षण के समान 107 में सुस्वादु विषैले भोजन के समान अन्त में दुःखदायी बताया गया है। 108 में बताया गया है कि विषैले भोजन करने से तो एक ही बार मृत्यु होती है परन्तु विषयों के सेवन से भव-भव में कष्ट उठाना पड़ता है। 109 में अविवेकी मनुष्य मरण को नियत-अनियत जानकर विषयों में आसक्त बताये गये हैं। इस प्रकार 112 तक की कारिकाओं में मन के प्रिय लगने वाले उक्त विषयों के भावी परिणाम को जानकर उससे विरक्त होकर आचार का अनुशीलन कर आत्म-रक्षा करने का निर्देश किया गया है। 113 वें कारिका में आचार के

पाँच भेदों एवं 114-117 वें कारिकाओं में आचार के 9 भेदों का कथन कर 118-119 वें कारिका में बतलाया गया है कि जो साधु शील के अट्ठारह हजार भेदों का पालन करता है, वही कभी भी राग-द्वेष के वशीभूत नहीं होता है। आगे 120 वें का॰ में पिशाच एवं कुलबधू के रक्षण की कथा सुनकर आत्मा को सर्वथा संयम पालन कर 121 वें कारिका में इन्हें इस लोक-संबंधी भोग के कारणों में अनित्यता का विचार करने का निर्देश किया गया है तथा122 वें में विषय सुख को अनित्य, भयावह, पराधीन बतलाकर प्रशम सुख को नित्य, निर्भय, आत्माधीन मानकर इसमें प्रयत्न करने का सुझाव दिया गया है।[36]

8. भावनाधिकार :

इस ग्रन्थ का आठवाँ अधिकार भावनाधिकार है। इसके 125 का० में सरल चित्त से इन्द्रिय दमन करना श्रेयस्कर बतलाया गया है। यही कारण है कि प्रशम रागी सरागी की अपेक्षा सहज में ही अनन्त कोटि गुने सुख को प्राप्त कर लेता है और सरागी को इष्ट-वियोग, अनिष्ट-संयोग आदि दुःख उठाना पड़ता है, परन्तु, वीतरागी को वह दुःख छूता भी नहीं है, क्योंकि वह वेद, कषाय, हास्य, रति, अरति, शोक, भय आदि पर विजय प्राप्त किये हुए रहता है। 126 इसलिए विषय में सुख की अपेक्षा प्रशमसुख को उत्कृष्ट बतलाया गया है। 127-129 लोक में चिन्ता छोड़ने पर साधु अपना भरण-पोषण कैसे करेगा इसका समाधान कर उल्लेख किया गया है कि लोक-शरीर-वार्ताएँ साधुओं के समीचीन धर्म और चरित्र की प्रवृत्ति में कारण हैं वे दोनों इष्ट हैं इसलिए लोक एंव धर्म विरुद्ध कार्यों को त्यागना हितकर है (132)। इस प्रकार साधु के लिए धर्म अविरुद्ध लोकवार्त्ता अनुसरणीय है (132) तथा अनुपकारी मनुष्य एवं दोषपूर्ण स्थान सर्वथा त्यागने योग्य है (133)।

आगे १३४-१३५वें कारिका में आरोग्य साधु को परिमित आहार, शरीरादिक में निःस्पृहता, संयम का निर्वाह, यात्रा के लिए घाव लेप की तरह, गाड़ी के पहिये के ओंगन तथा पुत्र के माँस की तरह, साँप की भाँति भोजन करने का निर्देश किया गया है तथा १३६-३७वें का० में लकड़ी के समान धैर्यशाली साधु के लिए राग-द्वेष से रहित मन से किया हुआ आहार उपयुक्त माना गया है । १३८वें कारिका में निष्परिग्रही साधु के लिए समीचीन धर्म एवं शरीर रक्षा हेतु भोजनादि आवश्यक बतलाया गया है और १३६ वें में उसी निष्परिग्रहता को स्पष्ट किया गया है। इस तरह १४०-१४१वें का० में साधु को कमल के समान निर्लिप्त और अलंकृत घोड़े के समान अपरिग्रही बतलाया गया है। आगे १४२-१४३वें कारिका में निर्ग्रन्थ, कल्प्य-अकल्प्य के स्वरुप का कथन कर १४४वें कारिका में उसकी पुष्टि करते हुए 145वें कारिका में बतलाया गया है कि भोजन, शय्या, वस्त्र, पात्र, आदि कल्प होने पर भी अकल्प और अकल्प होने पर भी कल्प हो जाती है। ये सब देश काल आदि की अपेक्षा से होती है (146)। इस प्रकार अनेकांतवाद के अनुसार कल्प और अकल्प की विधि बतलाकर मन, वचन और काय योग को वश में करने के लिए संक्षिप्त कथन किया गया है (147)। आगे मोक्षाभिलाषी मुनि को वैराग्य मार्ग में विघ्नकारक इन्द्रियों को वश में

करने का निर्देश करके (148) बारह भावनाओं का वर्णन किया गया है। (149) इसके साथ ही अनित्य आदि का चिन्तन करते हुए उक्त बारह भेदों क्रमशः अनित्यत्व, अशरणत्व, एकत्व,अन्यत्व, अशुचित्व, संसार कर्मों के आस्त्रव की विधि, संवर-विधि, निर्जरा, लोक-विस्तार, स्वख्यात धर्म एवं बोधिदुर्लभता का कथन किया गया है (149-165) और इन्द्रिय गण आदि कषाय रुपी शत्रुओं को शान्त करने के लिए क्षमा आदि दसविध धर्म पालन करने पर विशेष बल दिया गया है (166-167)[37]।

9. धर्माधिकार :

इस ग्रन्थ का नौवाँ अधिकार धर्माधिकार है। इसमें क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, संयम, त्याग, सत्य, तप, ब्रह्मचर्य एवं आकिंचन्य धर्म का क्रमशः कथन किया गया है 168-178 और बतलाया गया है कि दस धर्म के पालन करने से राग-द्वेष और मोहादि का थोड़े समय में उपशम हो जाता है तथा अहंकार छूट जाते हैं जिससे आत्मा के प्रबल शत्रु नष्ट हो जाते हैं और मन वैराग्य मार्ग में स्थिर हो जाता है (179-81)[38]।

10. धर्म कथाधिकार :

इस ग्रन्थ का दसवाँ अधिकार धर्मकथाधिकार है। उसमें बुद्धि को स्थिर करने के लिए आक्षेपणी,विक्षेपणी,संवेदनी और निर्वेदनी- चार प्रकार की धर्म कथा अपनाने एवं चोर, स्त्री, आत्म तथा देश-विकथा त्यागने का निर्देश किया गया है (182-183) और मन को विशुद्ध ध्यान में लगाने का निर्देश कर विशुद्ध ध्यान का कथन करते हुए शास्त्र-अध्ययन करने पर बल दिया गया है (184-185) । आगे शास्त्र शब्द की व्युत्पत्ति बतलाकर दुःख निवारक शास्त्र का विस्तृत वर्णन कर जीवादि नौ तत्वों का चिन्तन करने का निर्देश किया गया है (186-189)[39]।

11. जीवादि नव तत्वाधिकार :

इस ग्रन्थ का ग्यारहवां अधिकार जीवादि नव तत्वाधिकार है। इसमें जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध एवं मोक्ष- इन नौ तत्वों का उल्लेख करके जीव के भेद-प्रभेद का वर्णन किया गया है (190-193.2)[40]।

12. उपयोगाधिकार :

इसका बारहवाँ अधिकार उपयोगाधिकार है। इसमें जीव का लक्षण उपयोग बतलाते हुए उसके साकार-अनाकार दो प्रकार का कथन कर ज्ञानोपयोग एवं दर्शनोपयोग के क्रमशः आठ और चार भेदों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है (194-195)[41]।

13. भावाधिकार :

इस ग्रन्थ का तेरहवाँ अधिकार भावनाधिकार है। इसमें जीव के औदयिक, पारिणामिक,औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक- पाँच भावों का उल्लेख कर उनके

क्रमशः इक्कीस, तीन, दो, नौ और अट्ठारह भेदों का कथन करके बतलाया गया है कि उक्त भावों से आत्मा स्थान, गति, इन्द्रिय, सम्पत्ति सुख और दुःख को प्राप्त करती है। (196-98) आत्मा की आठ मार्गणाओं का कथन कर बतलाया गया है कि जीव-अजीव के द्रव्यात्मा,सकषाय जीवों के कषायात्मा होती है।199-200 इसके साथ ही सम्यग्दृष्टि के ज्ञानात्मा, सब जीवों के दर्शनात्मा, व्रतियों के चारित्रात्मा और समस्त संसारियों के वीर्यात्मा होती है (201)। इस प्रकार आगे नय विशेषानुसार सब द्रव्यों में द्रव्यात्मा का व्यवहार कर द्रव्य, क्षेत्रादि की अपेक्षा आत्मविचार करने का निर्देश करके अर्पित-अनर्पित की अपेक्षा से वस्तु के सत् और असत्-दो भेदों का उल्लेख कर उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त को सत् और इसके विपरीत को असत् माना गया है और बतलाया गया है कि वस्तु त्रिकाल स्वरुप की अपेक्षा नित्य है (202-206)[42]।

14. षड् द्रव्याधिकार :

इस ग्रन्थ का चौदहवाँ अधिकार षड़ द्रव्याधिकार है। इसमें अजीव द्रव्य के धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल, काल का वर्णन करते हुए बतलाया गया है कि पुद्गल को छोड़कर शेष द्रव्य अरुपी होते हैं (207)। पुदगल के अणु और स्कन्ध-दो भेद हैं (208)। धर्म, अधर्म, आकाश और काल के परिणामिक, पुद्गल के औदयिक-पारिणामिक तथा जीव के समस्त भाव होते हैं (209)। इस प्रकार छह द्रव्यों का समूह लोक है और लोक का आकार पुल्य के समान है (210) । इस लोक के अधोलोक, मध्यलोक तथा उर्ध्वलोक - तीन भेद हैं और उक्त तीन लोक के क्रमशः सात, अनेक एवं पन्द्रह भेद हैं। 211-12 में आकाश लोक-अलोक में व्याप्त बताया गया है। काल का व्यवहार मनुष्य लोक में होता है। शेष चार द्रव्य लोकव्यापी है। 213 धर्म, अधर्म, आकाश द्रव्य एक और शेष तीन द्रव्य अनन्त बताया गया है। काल को छोड़कर शेष द्रव्य अस्तिकाय तथा जीव को छोड़कर सभी द्रव्य अकर्त्ता हैं। 214 आगे गतित्युपकार धर्म, स्थित्युपकार अधर्म एवं समस्त द्रव्य को अवकाश देने वाला आकाश द्रव्य के कार्यों कथनकर पुद्गल, काल एवं जीव के उपकार का विस्तृत वर्णन किया गया है। (215-218) । इस प्रकार इसमें पुण्य, पाप, आस्त्रव, संवर, निर्जरा, बंध एवं मोक्ष तत्व का वर्णन कर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान के क्रमशः भेदों का कथन किया गया है (219-227)[43]।

15. चारित्राधिकार :

इस ग्रन्थ का पन्द्रहवाँ अधिकार चारित्राधिकार है। इसमें सम्यक् चारित्र के पाँच भेदों का उल्लेख कर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपी सम्पदा को मोक्ष का साधन माना गया है और बताया गया है कि उनमें से एक के भी अभाव में मोक्ष-सिद्धि संभव नहीं हैं, क्योंकि सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञान के होने पर ही सम्यक् चारित्र होता है (228-231)। और सम्यक्त्व अराधक साधु को ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।(232-233) अतः ऐसे अराधक साधु को जिनेन्द्रभक्ति आदि में यत्न कर नियमपूर्वक अत्यन्त परोक्ष प्रशम सुख प्राप्त करना चाहिए (234-237) क्योंकि, शास्त्रविहित विधि के पालक साधुओं को इसी लोक में मोक्ष

प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार राग-द्वेष में समानदर्शी, धर्मध्यानी, प्रशमगुणरत्न समूह से सुशोभित, सूर्य-समान तेजस्वी साधु ही शील के सम्पूर्ण अंगों का धारक होता है (238-244)[44]।

16. शीलांगानि अधिकार :

इस ग्रन्थ का सोलहवाँ अधिकार शीलांगानि अधिकार है। इसमें शील के अट्ठारह हजार अंगों की उत्पत्ति का कथन कर बतलाया गया है कि शील-समुद्र-पारगामी धर्मध्यानी साधु को वैराग्य की प्राप्ति होती है (245-247)[45]।

17. ध्यानाधिकार :

इस ग्रन्थ का सतरहवाँ अधिकार ध्यानानिअधिकार है। इसमें धर्म ध्यान के आज्ञाविचय, अपाय विचय, विपाक विचयं और संस्थान विषय-चार भेदों के स्वरुप का कथन किया गया है और परम्परा से धर्मध्यान का विशेष फल बतलाया गया है (248-250)[46]।

18. क्षपकश्रेणीअधिकार :

इस ग्रन्थ का अट्ठारहवाँ अधिकार क्षपक श्रेणी अधिकार है। इसमें क्षपक श्रेणी का विस्तार पूर्वक कथन कर बतलाया गया है कि तृष्णा-जेता, स्वाध्याय-ध्यान में तत्पर, कल्याणमूर्ति साधु अनेक ऋद्धियों से युक्त अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान को प्राप्त कर आठ कर्मों के नायक मोहनीय कर्म को नष्ट करता है। इसके बाद वह शेष कर्मों का क्षय करके अन्तर्मुहूर्त काल तक छद्मस्थ वीतरागी रहकर ज्ञान-दर्शनावरण एवं अन्तराय कर्म का समूल नाश करके सर्वोत्कृष्ट केवल ज्ञान को प्राप्त करता है। इस प्रकार केवल ज्ञानी घातिया कर्म का क्षय कर बैदनीय, आयु, नाम एवं गोत्र-अघातिया कर्मों का अनुभव करता है (251-272)[47]।

19. समुद्घाताधिकार :

इस ग्रन्थ का उन्नीसवाँ अधिकार समुद्घाताधिकार है। इसमें यही बतलाया गया है कि केवली के वेदनीय आदि कर्म की स्थिति आयु कर्म से अधिक होने के कारण उन्हें समुद्घात करना पड़ता है। वे समुद्घात से निवृत होकर योग का निरोध करते हैं। (273-276)[48]।

20. योग-निरोधाधिकार :

इस ग्रन्थ का बीसवाँ अधिकार योग-निरोधाधिकार है। इसमें योग-निरोध की रीति का निर्देश कर बतलाया गया है कि केवली को योग-निरोध करते समय सूक्ष्म क्रिय अप्रतिपाति एवं विगत क्रिय नामक शुक्ल ध्यान होता है और अंतिम भव में जिस केवली की जितनी आकार और उँचाई होती है, उससे उसके शरीर की आकार और उँचाई एक तिहाई कम हो जाती है (277-281) । इस प्रकार योग निरोध होने पर केवली संसाररुपी समुद्र से पार करता हुआ व्युपरत क्रिया निवर्ति ध्यान के समय शैलशी अवस्था को प्राप्त करता है। (282-283)[49]।

21. मोक्षगमणविधानाधिकार :

इस ग्रन्थ का इक्कीसवाँ अधिकार मोक्षगमणविधानाधिकार है। इसमें यह बतलाया गया है कि केवली अंतिम समय में कर्म दलिकों को क्षयकर अघातिया कर्मों के समूह को नष्ट करके ऋजुश्रेणी गति को प्राप्त करते हुए विग्रहरहित बिना किसी बाधा के ऊपर जाकर लोक के अग्रभाग में साकार उपयोग से सिद्धि पद को प्राप्त होता है, क्योंकि निष्परिग्रही एवं निर्ग्रन्थी जीव स्वभाव से उर्ध्वगामी होता है (284-294) । इस प्रकार जीव के अनुपम सुख सिद्धि का कथन करके बतलाया गया है कि जिन साधुओं को मुक्ति-प्राप्ति के समस्त साधन सुलभ हैं, उन्हें मोक्ष की प्राप्ति होती है, किन्तु जिन्हें समग्र सामग्री की प्राप्ति नहीं होती है, वे मरकर प्रभावशाली महर्द्धिक देव होते हैं (295-298) [50] ।

22. अनन्तफलाभिधानाधिकार :

इस ग्रन्थ का अंतिम अधिकार अनन्तफलाभिधानाधिकार है। इसमें यही बतलाया गया है कि वही साधु पुनः मनुष्य लोक में जन्म लेकर परम्परानुसार केवल तीन ही भव में मोक्ष प्राप्त करता है (299-301) ।

आगे गृहस्थ की चर्या के लिए बारह प्रकार के श्रावक धर्म का पालन करना आवश्यक बतलाया गया है। इसमें उल्लेख किया गया है कि जो श्रावक धर्म का पालन कर संलेखनापूर्वक मरण करके पुनः मनुष्य लोक में जन्म लेकर दुर्लभ सुख को भोगता है, वह(श्रावक) आठ भवों के अन्दर शुद्ध होकर नियम से मोक्ष को प्राप्त करता है (302-308) । इस प्रकार मनुष्यों में उत्तर गुणों से सम्पन्न मुनि और श्रावक प्रशमरति के द्वार स्वर्ग और मोक्ष के शुभ फल को प्राप्त करते हैं (309) [51] ।

आगे ग्रन्थकार ने रत्नों के आकार समुद्र से निकाली गई जीर्ण कौड़ी की तरह जिनशासनरूपी समुद्र से भक्तिपूर्वक ली गई इस धर्मकथा को सुनकर गुण-दोष के ज्ञाता सज्जनों से दोषों को छोड़कर, गुण के अंशों को ग्रहण करने तथा सब प्रकार के प्रशमसुख की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने का आग्रह किया है और ग्रन्थ-रचना के क्रम में आगम के विरुद्ध किसी भी प्रकार के आचरण के लिए दोषी पाये जाने पर विद्वानों से पुत्र-अपराध की तरह क्षमा याचना कर समस्त सुखों का मूल बीज स्वरुप जिनशासन का जय-जयकार किया है (310-313)[52] । इस प्रकार ग्रन्थ-परिचय पूर्ण हुआ।

(ख) टीकाएँ एवं टीकाकार :

प्रशमरति प्रकरण एक मोक्ष विषयक ग्रन्थ होने के कारण विभिन्न आचार्यों एवम् विद्वानों ने विभिन्न भाषाओं में टीकाएँ लिखी हैं जिसकी चर्चा गत प्रकरण में की गयी है। इन टीकाओं में सबसे अधिक आचार्य हरिभद्र सूरि की टीका प्रसिद्ध है जो संस्कृत भाषा मे लिखी गई है।

आचार्य हरिभद्र सूरि नाम के विभिन्न आचार्यों के होने की संभावना है। लेकिन प्रशमरति प्रकरण के टीकाकार षड्दर्शन समुच्चय के रचयिता आचार्य हरिभद्र सूरि ही हैं जिनका समान्य परिचय निम्न प्रकार है :-

आचार्य हरिभद्र का जन्म राजस्थान के चित्रकूट- चित्तौड़ नगर में हुआ था। इनके माता का नाम गंगा और पिता का नाम शंकर था। ये जाति के ब्राह्मण थे और अपने अद्वितीय पांडित्य के कारण वहां के राजा जितारि के राजपुरोहित थे। इसके बाद याकिनी साध्वी के उपदेश से जैन धर्म में दीक्षित हुए। ये श्वेताम्बर सम्प्रदाय के विद्याधर गच्छ के शिष्य थे और इनके गच्छपति आचार्य का नाम जिनजट्कट, दीक्षा गुरु का नाम जिनदत्त तथा धर्म माता साध्वी का नाम याकिनी महत्तरा था। दीक्षोपरांत जैन साधु के रुप में इनका जीवन राजपूताना और गुजरात में विशेष रुप से व्यतीत हुआ [53]।

आचार्य हरिभद्र के जीवन प्रवाह को बदलनेवाली घटना उनके धर्म-परिवर्तन की है। इनकी यह प्रतिज्ञा थी कि जिसका वचन न समझूँगा, उसी का शिष्य हो जाउँगा। एक दिन राजा का मदोन्मत्त हाथी खूँटे को उखाड़कर नगर में दौड़ने लगा। आचार्य हरिभद्र हाथीसे बचने के लिए एक जैन उपाश्रय मे चले गये। वहाँ याकिनी महत्तरा नाम की साध्वी को निम्न गाथा का पाठ करते हुए सुना-

चक्की दुगं हरिपणगं पणनं चक्कीण केसवो चक्की।
केसव चक्की केसव दु चक्की केसव चक्की य। [54]

इस गाथा का अर्थ उनकी समझ में नहीं आया और इन्होंने साध्वी से उसका अर्थ पूछा। साध्वी ने गच्छपति आचार्य जिनदत्त के पास भेज दिया। आचार्य से अर्थ सुनकर वे वहीं दीक्षित हो गये और बाद में विद्वत्ता तथा श्रेष्ठ आचार के कारण आचार्य ने इनको ही अपना पट्टधर आचार्य बना दिया। जिस याकिनी महत्तरा के निमित्त से हरिभद्र ने धर्म परिवर्तन किया था, इसको इन्होंने अपनी धर्म माता के रुप में पूज्य माना और अपने को याकिनी सूनु कहा ।

काल-निर्णय :

आचार्य हरिभद्र का समय अनेक प्रमाणों के आधार पर वि०सं० 884 माना गया है [55]। अतः हरिभद्र सूरि वि०सं० 884 (ई० 827) के आस-पास में हुए मल्लवादी के सम-सामयिक विद्वान् थे। कुवलयमाला के रचयिता उद्योतन सूरि ने हरिभद्र को अपना गुरु बतलाया है और कुवलयमाला की रचना ई० सन्778 में हुई है। मुनि जिन विजय जी ने आचार्य हरिभद्र का समय ई० सन् 700-770 माना है, पर हमारा विचार है कि इनका समय ई० सन् 800 - 830 के मध्य होना चाहिए। इस समय-सीमा को मान लेने पर भी उद्योतनसूरि के साथ गुरु-शिष्य का सम्बन्ध स्थापित हो सकता हैं।

रचनाएँ :

आचार्य हरिभद्र को 1444 प्रकरणों का रचयिता माना गया है। राजेश्वर सूरि ने अपने प्रबन्धकोश में इनका 1440 प्रकरणों का रचयिता लिखा है। इनकी उपलब्ध महत्वपूर्ण रचनाएँ निम्नलिखित है [56]: अनुयोग द्वार विवृत्ति, आवश्यक सूत्र विवृत्ति, ललित विस्तार, जीवाजीवाभिगम सूत्र लघु वृत्ति, दशवैकालिक वृहद् वृत्ति, श्रावक प्रज्ञप्ति टीका, न्याय प्रवेश टीका, अनेकान्त जयपताका, योग दृष्टि समुच्चय, शास्त्र वार्ता समुच्चय, सर्वज्ञ, सिद्धिअनेकांतवाद प्रवेश, उपदेश पद, धम्म संगहणो, योग बिन्दु, योग शतक, षड्दर्शन समुच्चय, समराईच्चकहा, धूर्त्ताख्यान, संवाहण पगरण, प्रशमरति प्रकरण टीका।

हरिभद्रीय टीका की विशेषता :

आचार्य हरिभद्र की टीका संस्कृत भाषा में लिखी गई है। इस टीका की महत्वपूर्ण विशेषताएँ इस प्रकार हैं :

(क) इसकी मुख्य विशेषता यह है कि कारिका में आये हुए पदों की विस्तृत व्याख्या की गयी है।

(ख) दूसरी विशेषता यह है कि संबंधित कथन की पुष्टि के लिए इन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रन्थों का उद्धरण दिये हैं।

(ग) तीसरी विशेषता यह है कि अगली कारिका के विषय की सूचना भी टीका द्वारा दी गयी है।

(घ) इसकी भाषा सरल और बोधगम्य है।

(ङ) पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या भी सरल ढंग से इस टीका में की गई है। इसके कारण ग्रन्थ को समझने में अध्येताओं को कठिनाईयों का सामना नहीं करना पड़ता है। भाषा में प्रवाह आकर्षक है।

अवचूरि :

जैन परम्परा में आगम एवं आगमेतर साहित्य तथा अवचूरि लिखने की परम्परा है। ऐसी ही एक अवचूरि प्रशमरति प्रकरण पर भी लिखी गई है। लेकिन ये अवचूरिकार की महानता है कि इन्होंने ग्रन्थ में अपने नाम का उल्लेख भी नहीं किया है। उक्त अवचूरि के प्रत्येक कारिका में कठिन शब्दों की व्याख्या की गई है। अभी तक इस अवचूरि का हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ है जो अपेक्षित है।

अन्य टीकाएँ :

इसके अलावे प्रो० राजकुमार शास्त्री की हिन्दी टीका, भोगी लाल की अंग्रेजी टीका एवं कन्नड़ आदि भाषा में अन्य टीकाएँ उपलब्ध हैं।

(ग) वैराग्य विषयक साहित्य में प्रशमरति प्रकरण का स्थान :

भारतीय धर्मदर्शन एवं संस्कृति मोक्षमूलक होने के कारण यहाँ के चिन्तकों ने विभिन्न कालों में विभिन्न भाषाओं में वैराग्य विषयक साहित्य का सृजन किया है। जैन धर्म-दर्शन विशेषकर निवृत्तिमूलक दर्शन है। इसलिए जैनाचार्यों ने वैराग्य विषयक विपुल साहित्य लिखकर भारतीय संस्कृति को संवर्द्धित किया है। वैराग्य के क्षेत्र में जैन दर्शन का महत्वपूर्ण स्थान है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि समस्त तीर्थंकरों ने वैराग्यमूलक उपदेश दिये और उनके गणधरों नेतद्विषयक रचनाओं का, जिन्हें आगम के नाम से जाना जाता है, सृजन किया है ।

उत्तरवर्ती आचार्यों ने आगमों का आधार बनाकर अनेक छोटी-बड़ी रचनाएं की है, जिन्हें हम आगमेतर जैन साहित्य कह सकते हैं। संक्षेप में यहां पर वैराग्य विषयक साहित्य-प्रस्तुत है।

अर्द्धमागधी वैराग्य विषयक आगम साहित्य :

अर्द्धमागधी आगम साहित्य में आचारांग वैराग्य विषयक ग्रन्थ है। इसमें जीवों को संसार की अनित्यता आदि का बोध कराकर मोक्ष की ओर उन्मुख होने के लिए प्रेरित किया गया है। उत्तराध्ययन एवं दशवैकालिक भी इसी कोटि की रचना है।

शौरसेनी प्राकृत भाषा में रचित वैराग्य विषयक साहित्य :

शौरसेनी प्राकृत भाषा में निबद्ध षट्खंडागम, कषाय पाहुड, महाबंध में कर्म संबंधी सूक्ष्म विवेचन करके जीवों को वैराग्य की ओर उन्मुख होने के लिए उत्प्रेरित किया है। समयसार पूर्ण आध्यात्मिक ग्रन्थ है। इसमें आत्मा के शुद्ध स्वरुप का विवेचन किया गया है ताकि संसारी जीव मोक्ष के मार्ग पर अग्रसारित हो सके। पंचास्तिकाय भी वैराग्य विषयक ग्रन्थ है। इसमें स्वयं आचार्य कुन्दुकुन्द ने कहा है कि इस ग्रन्थ की रचना का उद्देश्य और पंचास्तिकाय के अध्ययन का फल मोक्ष-प्राप्ति है।[57] इसमें पाँच अस्तिकायों के स्वरुप विवेचन कर यह बतलाया गया है कि एक मात्र शुद्ध आत्मा ही अपनी है और इससे भिन्न अन्य है। इसलिए मोक्षप्राप्ति के लिए अन्य द्रव्यों के प्रति राग भाव को छोड़ना आवश्यक है।

प्रवचनसार नामक वैराग्य विषयक ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य भव्य जीवो नमक में वैराग्य (वीतराग) भाव उत्पन्न करना है। इसमें आत्मा और अन्य द्रव्यों का स्वरुप विवेचन करने के पश्चात् शुद्ध उपयोग द्वारा शुद्धात्मा की प्राप्ति के लिए प्रेरणा दी गई है। इसी तरह से नियमसार रयणसार और अष्टपाहुड़ वैराग्य विषयक साहित्य हैं जिसकी रचना आचार्य कुन्दकुन्द ने की है।

अपभ्रंश भाषा में रचित वैराग्य विषयक साहित्य :

अपभ्रंश भाषा में भी वैराग्य विषयक साहित्य की रचना की गयी है। आचार्य योगेन्द्र ने अपभ्रंश भाषा में परमात्म प्रकाश योगसार, अध्यात्म संदोह, अमृताशीति, सुभाषित तंत्र ग्रन्थों की रचना कर वैराग्य के क्षेत्र में महान् योगदान किया है। युक्त सभी ग्रन्थों का विषय सांसारिक जीवों को मोक्ष प्राप्ति कराना है।

हिन्दी भाषा में रचित वैराग्य मूलक साहित्य :

हिन्दी भाषा में भी अध्यात्म (वैराग्य) विषयक अध्यात्म सवैया, परमार्थगीत, परमार्थ दोहा शतक, ब्रह्मविलास, चित्तविलास, सख्य संबोधन, पदसाहित्य, रहस्यपूर्ण चिट्ठी, मोक्षमार्ग प्रकाश ,सतसेयी बुधजन एवम् श्रीमद् राजचन्द्र की डायरी आदि ग्रन्थ हैं। इन सभी साहित्य का एक मात्र उद्देश्य भव्य प्राणियों को वैराग्य की ओर प्रेरित करना है।

संस्कृत भाषा में रचित वैराग्य विषयक साहित्य :

संस्कृत भाषा में भी अनेक वैराग्य विषयक साहित्य का सृजन हुआ है। आचार्य पूज्ययाद का इष्टोपदेश, समाधितंत्र, कविराज मल्ल रचित अध्यात्म कमलमार्तण्ड, पं० आशाधरकृत अध्यात्म रहस्य, शुभचन्द्र भट्टारक (16 वीं शताब्दी) के परमाध्यात्म तरंगिनी यशोविजय का अध्यात्म उपनिषद् एवम् अध्यात्मसार ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनका विषय वैराग्य (अध्यात्म) है।

वैराग्य विषयक साहित्य में प्रशमरति प्रकरण का स्थान :

प्रशमरति प्रकरण भी एक वैराग्य विषयक ग्रन्थ है जिसकी रचना संस्कृत भाषा में की गई है। उसमें प्रशमरति की व्युत्पत्ति बतलाते हुए कहा गया है कि प्रशमरति-प्रशम और रति- शब्दों के मेल से बना है। यहाँ प्रशम का अर्थ है-वैराग्य और रति का अर्थ होता है-प्रेम। यानि प्रशम का शाब्दिक अर्थ हुआ- वैराग्य मे प्रेम। इस प्रकार राग-द्वेष के ही उत्कृष्ट शम में प्रीति करना प्रशमरति है। उसके पर्यायवाची शब्दों का उल्लेख कर बतलाया गया है कि माध्यस्थ, वैराग्य, विरागता, शान्ति, उपशम, प्रशम, दोषक्षय, कषायविजय-ये सब वैराग्य के पर्यायान्तर हैं [58]।

इस ग्रन्थ का प्रमुख उद्देश्य भव्य प्राणियों को प्रशमसुख की ओर आकृष्ट कर वैराग्य मार्ग में दृढ़ करना है ताकि जीवन के चरम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति हो सके [59]। इसलिए ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थ में संसार हेतु राग-द्वेष आदि का वर्णन कर जीवबंध की प्रक्रिया को भलीभांति समझाया है और राग-द्वेष को ही संसार की परम्परा का जनक मानकर उस पर विजय प्राप्त करने के लिए वैराग्य मार्ग पर चलना आवश्यक बतलाया है। इस ग्रन्थ में मुनि और श्रावकों के आचार का विशुद्ध विवेचन हुआ है और मुनियों की मोक्ष प्राप्ति हेतु गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, त्रिरत्न, महाव्रत आदि पालन करने की प्रेरणा दी गयी है। उक्त

आचार के पालन करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में मोक्ष स्वरुप का कथन कर जन्म-मरण के चक्कर से सदा के लिए मुक्त होने का उपाय बतलाया गया है।

इस वैराग्य विषयक ग्रन्थ के अंत में प्रशमरति के फल का कथन कर बतलाया है कि प्रशम में रति होने के कारण गृहस्थ तथा संयम के अनुष्ठाता संयमी मुनि क्रमशः स्वर्ग एवं मोक्षफल की प्राप्त करते हैं [60]। इसलिए समस्त सुखों का मूल बीज, सकल अर्थों के निर्णायक तथा सब गुणों की सिद्धि के लिए धन की तरह साधन स्वरुप जिनशासन में भक्ति भाव पूर्वक साधना कर शाश्वत, चिरन्तन, अनुपम, अव्यशबाध एवं अनन्त प्रशम सुख की प्राप्ति के लिए संयमी सज्जनों को प्रयत्न करने का आग्रह किया गया है [61]।इस प्रकार उक्त विश्लेषण से प्रशमरति प्रकरण शीर्षक नाम की सार्थकता स्वतः सिद्ध होती है। उपर्युक्त वैराग्य विषयक जिन ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है, उनमें प्रशमरति प्रकरण उत्कृष्ट कोटि का ग्रन्थ कहा जा सकता हैं क्योंकि इसमें अध्यात्म संबंधी सूक्ष्म विषय का प्रतिपादन किया गया है। इसके अध्येता और श्रोता दोनों ही शीघ्र संसार से विरक्त होने की भावना करने लगते हैं। इस प्रकार यह वैराग्य विषयक ग्रन्थों में विशिष्ट स्थान रखता है। इसके समान अध्यात्म विषयक अन्य दूसरा कोई भी ग्रन्थ इस कोटि का नहीं है। इसलिए वैराग्य मूलकग्रन्थों में प्रशमरति प्रकरण का विशेष महत्व है।

सन्दर्भ-सूची

1. अचार्य उमास्वातिः प्रशमरति प्रकरण, अवचूरि, सूत्र, पृ० 217
2. पं० नाथुराम प्रेमीः जैन साहित्य का इतिहास, पृ० 522
3. देखें वही, पृ० 526
4. जैन साहित्य का इतिहास, पृ० 526
5. पं० सुखलाल संघवीः तत्वार्थसूत्र, प्रकाशन-पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-5, सन् 1976, प्रस्तावना, पृ० 17-18
6. नगर ताल्लुका के शिलालेख - न० 46
7. तत्वार्थ में वर्णित विषयों के मूल को जानने के लिए देखें - आत्माराम जी द्वारा सम्पादित तत्वार्थसूत्र जैनागम समन्वय
8. तत्वार्थसूत्र, प्रस्तावना, पृ० 17
9. तत्वार्थसूत्र (सम्पादक पंडित सुखलाल संघवी) प्रस्तावना, पृ० 17-18
10. जैन साहित्य का इतिहास (पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री) पृ० 229
11. तत्वार्थसूत्र प्रस्तावना, पृ० 6
12. देखें, स्वामि समन्तभद्र (सम्पा० पं० जुगल किशोर मुख्तार) पृ० 144
13. तत्वार्थसूत्र, प्रस्तावना, पृ० 1-3
14. तत्वार्थसूत्र, सं० पंडित संघवी, प्रस्तावना, पृ० 3
15. डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री : तीर्थकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग 2, पृ० 152
16. पूज्यपाद : सर्वार्थसिद्धि (सं० पं० फूलचन्द्र सिद्धांत शास्त्री), प्रस्तावना पृ० 78
17. तीर्थकार महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग 2, पृ० 152
18. कुन्दकुन्दाचार्यः प्रवचनसार, सं० डॉ० ए० एन० उपाध्याय, अंग्रेजी प्रस्तावना

19 पं० कैलाश चन्द्र शास्त्री: जैन साहित्य का इतिहास, पृ० 272

20 तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भा० 2, पृ०153

21. पं० नाथूराम प्रेमी: जैन साहित्य और इतिहास पृ० 547

22. वही देखें, पृ० 545

23. तत्वार्थसूत्र (संघवी) प्रस्तावना० पृ० 6 -12

24. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश (सं० जिनेन्द्रवर्णी) भाग१, पृ० 4-5

25. सिद्धसेनी वृत्ति, पृ० 78

26. तत्वार्थसूत्र (सं॰ पं॰ संघवी), प्रस्तावना, पृष्ठ 13 की पाद टिप्पणी

27. डॉ० मोहन लाल मेहताः जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भा०4, पृ० 267 .68

28. उमास्वातिः प्रशमरति प्रकरण, अवचूरि, प्रथम अधिकार, सूत्र-1-3,पृ० 217

29. (क) प्रशमरति कथंनाम ....वक्ष्ये प्रकरण, प्रशमरति प्रकरण, अ०22, का० 311 का भावार्थ, पृ० 214

30. प्रशमरति प्रकरण, अवचूरि, सूत्र। 1-3, पृ० 217

31. प्रशमरति प्रकरण, अ०1, कारिका 1-23, पृ० 1 से 17

32. वही, 2, का० 24-33, पृ० 19-25. 3. वही, का -34-35, पृ० 26-27

33. वही, 4, का० 36-40, पृ० 28-31

34. वही, 5, का० 41 - 80, पृ० 32-55

35. वही, 6, का 81 - 105, पृ० 56 - 71

36. वही, 7, 106 - 122, पृ० 72 - 83

37. वही, 8, का 123-167, पृ० 84 - 115

38. वही, 9, का० 16-8-181, पृ० 115 - 125

39. वही, 10, का० 182-189, पृ० 126-130

40. वही, 11, का० 190-193, पृ० 132-133

41. वही, 12, का० 194-193 पृ० 132-133

42. वही, 13, का० 196-206, पृ० 135-144

43. वही, 14, का० 207-227 पृ० 145-159

44. वही, 15, का० 228-244, पृ० 160-169

45. वही, 16, का० 245-247, पृ० 169 - 171
46. वही, 17, का० 248-250, पृ० 172 - 173
47. वही, 18, का० 151-272, पृ० 174 - 186
48. वही, 19, का० 273-276, पृ० 186 - 188
49. वही, 20, का० 277-283, पृ० 189 - 195
50. वही, 21, का० 284-298, पृ० 196 - 205
51. वही, 22, का० 299-309, पृ० 206 - 213
52. वही, 22, का० 310 - 313, पृ० 213 - 215
53. डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री : प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० 463
54. याकौबी द्वारा लिखित समराइच्चकहा की प्रस्तावना, पृ० 2
55. देखें -आचार्य हरिभद्र : प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन, समय निर्णय
56. डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्रीः प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० 464 - 465
57. आचार्य कुन्दकुन्द : पंचास्तिकाय, श्री रायचन्द्र आश्रम, आगास द्वारा प्रकाशित, गा० 172 - 173, पृ० 245 - 252
58. प्रशमरति प्रकरण, प्रथमाधिकार का० 17, पृ० 15
59. प्रशमरति प्रकरण, 1, का० 2, पृ० 3
60. प्रशमरति प्रकरण, 22, का० 309, पृ० 213
61. वही देखें, का० 310-11, पृ० 213 - 214

दूसरा अध्याय

तत्व मीमांसा

तत्व मीमांसा :

दार्शनिक जगत में तत्व की अवधारणा अत्यधिक महत्वपूर्ण मानी गयी है। प्रारम्भ से ही भारतीय और यूरोपीय दार्शनिकों ने इस पर अपने-अपने दृष्टिकोण से गहराईपूर्वक अनुचिन्तन किया है। यदि हम अपने कथन के क्षेत्र को थोड़ा और व्यापक करें तो हम कह सकते हैं कि वैज्ञानिकों ने भी इसे अपनी गवेषणा का विषय बनाया है। दर्शन का प्रारम्भ तत्व चिन्तन से ही होता है। जैन वाङ्मय का अनुशीलन करने से ही उपरोक्त कथन की पुष्टि होती है। जैन धर्म में मान्य चौबीस तीर्थंकरों का उपदेश भी तत्व स्वरुप मूलक रहा है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि जैन वांगमय में तत्व-विवेचन सर्वप्रथम प्राकृत भाषा में और इसके बाद संस्कृत भाषा में उपलब्ध है।

आचार्य कुन्दकुन्द कृत पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, नियमसार, उमास्वामी कृत तत्वार्थसूत्र पूज्यपाद रचित सर्वार्थसिद्धि और भट्टाकलंक देव रचित तत्वार्थवार्तिक आदि तत्व विषयक ग्रन्थों में तत्व का विशुद्ध विवेचन किया गया है। तत्व शब्द के लिए जैन दर्शन में विभिन्न शब्दों का प्रयोग किया गया है और सत्ता, तत्व, सत्, सामान्य, द्रव्य, अन्वय, पदार्थ, वस्तु, अर्थ एवं तत्व को एकार्थवाची शब्द माना गया है [1]।

(क) तत्व - विमर्श :

प्रशमरति प्रकरण भी एक तत्व-विषयक ग्रन्थ के रुप में प्रसिद्ध है। इसमें तत्व की चर्चा प्रमुख रुप से की गई है। प्रशमरति प्रकरण मे तत्व की परिभाषा देते हुए बतलाया गया हैं कि जीवादि पदार्थों से दूसरे के आग्रह के बिना, परमार्थ से सत्यता की जो प्रतीति होती है, वह तत्व कहलाता है [2]।.

प्रशमरति प्रकरण में तत्व के नौ भेद किये गये हैं। - जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्त्रव,

संवर, निर्जरा, बंध एवं मोक्ष[3] जबकि अन्य शास्त्रों मे तत्व की संख्या सात ही बतलाई गई है, क्योंकि पुण्य एवं पाप का अन्तर्भाव बंध तत्व में कर लिया गया है। परन्तु यहाँ पुण्य एवं पाप कर्मों के भेद बतलाने के लिए उनको पृथक ग्रहण किया गया है [4]। इसलिए तत्व के 9 (नौ) भेद बतलाये गये हैं। जिनका विस्तृत वर्णन निम्न प्रकार है:

१. जीव तत्व :

जीव एक प्रमुख तत्व है। जीव प्राण को धारण करता है । प्राण दो प्रकार के होते हैं - द्रव्य प्राण और भाव प्राण । पाँच इन्द्रियाँ, तीन बल, श्वासोच्छवास और आयु- ये दस द्रव्य प्राण हैं तथा ज्ञानोपयोग एवम् दर्शनोपयोग भाव प्राण हैं [5]। एक जीव में कम से कम चार प्राण (स्पर्शेन्द्रिय, कायबल, श्वासोच्छवास एवं आयु) होते हैं ।

प्रशमरति प्रकरण में जीव की परिभाषा देते हुए बतलाया गया है कि जो जीव द्रव्य और भाव प्राण से त्रिकाल में जीवित रहे, वह जीव है [6]। इसमें भाव प्राण जीव से अभिन्न है तथा आभ्यन्तर एवं अविनाशी होती है । भाव प्राण को शुद्ध प्राण भी कहा जाता है ।

जीव का सामान्य लक्षण उपयोग है [7]। उपयोग आत्मा के चेतना का परिणाम है । जिसमें यह गुण पाया जाता है, वह जीव है और जिसमें नहीं पाया जाता है । (क) ज्ञानोपयोग (ख) दर्शनोपयोग ।

ज्ञानोपयोग के आठ भेद हैं [8] - मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान, केवलज्ञान, मत्यज्ञान, श्रुताज्ञान और विभंगज्ञान । उक्त पाँच ज्ञान और तीन अज्ञान- आठ प्रकार के ज्ञानोपयोग साकार है [9]। दर्शनोपयोग के चार भेद हैं, ६- चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवल दर्शन। चक्षुदर्शनादि का विषय अनाकार है, क्योंकि दर्शनोपयोग निर्विकल्पक है [10]।

जीव के भावः

जीव अपने स्वभाव में परिणमन करता है। जीव की परिणति विशेष को भाव कहा गया है। जीव के पाँच भाव बतलाये गये हैं - औदयिक, पारिणामिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक [11]। उक्त जीव के पाँच भावों का विशेष उल्लेख निम्न प्रकार किया गया है ।

औदयिकभाव :

कर्मों के उदय से जो भाव होता है, उसे औदयिक भाव कहते हैं [12]। इसके इक्कीस भेद हैं- देव, मनुष्य, तिर्यंच एवं नरक रुपी चार गतियाँ, क्रोध, मान, माया, लोभ, चार कषाय, स्त्री, पुरुष और नपुंसक लिंग, एक मिथ्यादर्शन, एक अज्ञान, एक असंयत, एक असिद्धत्व और कृष्ण नील कपोत तेजस पद्म-शुक्ल-छह लेश्याएँ। ये सभी भाव कर्म के उदय से होते हैं [13]।

पारिणामिक भाव :

यह जीव का स्वाभाविक परिणाम है, क्योंकि यह औपशमिकादि भाव कर्मों के उपशम, क्षय, क्षयोपशम और उदय से नहीं होते हैं। ये भाव कर्मजन्य नहीं हैं। इसीलिए इस भाव को अनादि, अनन्त, स्वाभाविक, निरुपाधि एव ज्ञायिक माना गया है [14]।

औपशमिक भाव :

कर्मों के उपशम से जो भाव होता है, उसे औपशमिक भाव कहा जाता है [15]। इसके दो भेद हैं-(क) औपशमिक सम्यकत्व (ख) औपशमिक चारित्र [16]।

क्षायिक भाव :

कर्मों के क्षय से जो भाव उत्पन्न होता है, उसे क्षायिक भाव कहा जाता है।[17] इसके नौ भेद बतलाये गये हैं[18] - क्षायिक दर्शन, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग, दानलब्धि, लाभ लब्धि, सम्यक्त्व और चारित्र।

क्षायोपशमिक भाव :

कर्मों के क्षयोपशम से जो भाव उत्पन्न होता है, उसे क्षयोपशमिक भाव कहते हैं [19]। इसके अट्ठारह भेद बतलाये गये हैं [20]- मति-अवधि-मनः पर्यय- चार प्रकार का ज्ञान, कुमति - कुश्रुत-कुअवधि-तीन अज्ञान, चक्षुदर्शन- अचक्षुदर्शन एवं अवधि दर्शन - तीन दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपयोग, वीर्यरुप पाँच लब्धियाँ, सम्यक्त्व, चारित्र एवं संयमासंयम।

सान्निपातिक भाव :

उक्त पाँच भावों के अतिरिक्त एक छठ्ठा भाव और भी है, जिसे सान्निपातिक भाव कहते हैं। यह कोई स्वतंत्र भाव नहीं है, किन्तु संयोगज भाव है। इस प्रकार पाँच भावों के संयोग से जो भाव उत्पन्न होता है, उन्हे सान्निपातिक भाव कहते हैं [21]। इसके छब्बीस भेद हैं- दो संयोगी दस, तीन संयोगी दस, चार संयोगी पाँच और संयोगी एक । इनमें से ग्यारह भाव विरोधी होने के कारण त्याज्य हैं और शेष पन्द्रह भाव अविरोधी हैं, इसलिए ये भाव ग्राह्य हैं [22]।

जीव के भेद :

जीव के मुख्यतः दो भेद हैं- (क) मुक्त एवं (ख) संसारी [23]। इसमें मुक्त जीव के भेद-प्रभेद नहीं होता है, क्योंकि यह जीव समस्त कर्मों से मुक्त होता है। इसलिए मुक्त जीव भेद रहित है [24]।

संसारी जीव के भेद :

संसारी जीव दो प्रकार के होते हैं- (क) त्रस और (ख) स्थावर[25]।

(क) **त्रस जीव :** जिनके त्रस नाम कर्म का उदय होता है, उसे त्रस जीव कहते हैं।

(ख) **स्थावर जीव :** जिनके स्थावर नाम कर्म का उदय होता है, उसे स्थावर जीव कहते हैं।

स्थावर जीव के भेद :

स्थावर जीव के पाँच भेद हैं[26] - (1) पृथ्वीकाय (2) जलकाय (3) वायुकाय (4) अग्निकाय (5) वनस्पतिकाय।

इन्द्रियों की अपेक्षा जीव के भेद :

प्रशमरति प्रकरण में इन्द्रियों की अपेक्षा से जीव का वर्गीकरण किया गया है। वह निम्नांकित है- एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय[27]।

एकेन्द्रिय जीव :

जिन जीवों में स्पर्शन एक ही इन्द्रिय होती हैं और जो स्पर्शन इन्द्रिय से स्पर्श को जानते हैं, उन्हें एकेन्द्रिय जीव कहते हैं। जैसे- पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पतिकाय[28]।

द्वीन्द्रिय जीव :

जिन जीवों को स्पर्शन और रसना - ये दो ही इन्द्रियाँ होती हैं और जो स्पर्शन से स्पर्श को और रसना इन्द्रिय से रस को जानते हैं, उन्हें द्वीन्द्रिय कहते हैं। जैसे - कुक्षि, कृमि, शीप, शंख, गंडोला, संबूक इत्यादि[29]।

त्रीन्द्रिय जीव :

जिन जीवों को केवल स्पर्शन, रसना और घ्राण- तीन इन्द्रियाँ होती हैं । उन्हें त्रीन्द्रिय जीव कहते हैं। जैसे- जूँ , खटमल, चींटी, बिच्छू, कुंभी, पिपीलिका, चीलर, दीमक, झिंगूर[30]।

चतुरेन्द्रिय जीव :

जिन जीवों को मात्र स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु - ये चार इन्द्रियाँ होती हैं और जो स्पर्शन इन्द्रिय से स्पर्श को, रसना से रस को, घ्राण से गन्ध को तथा चक्षु-इन्द्रिय से रुप को जानते हैं, उन्हें चतुरेन्द्रिय जीव कहते हैं। जैसे भौंरा, मक्खी, पतंग, मकड़ी, डंस, मधुमक्खी, गोमक्खी, मच्छर, टिड्डी, ततैया, कुरकुट इत्यादि[31]।

पंचेन्द्रिय जीव :

जिन जीवों को स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, और श्रोत्र - ये पाँचों इन्द्रियाँ होती हैं और जो स्पर्शन से स्पर्श, रसना से रस, घ्राण से गन्ध, चक्षु से रुप तथा श्रोत इन्द्रिय से शब्द को जान सकते हैं, उन्हे पंचेन्द्रिय जीव कहते हैं। जैसे- गााय, भैंस, बकरा, मेढ़क, गर्भज एवं समूर्च्छन जीव इत्यादि [32]।

(ग) गति की अपेक्षा जीव के भेद :

गति नाम कर्म के उदय से मृत्युपरांत एक भव को छोड़कर दूसरे भव को प्राप्त करना ही गति है। जीव की चार गतियाँ है [33]-देव, मनुष्य, तिर्यंच, नारक।

देवात्मा :

देव गति नाम कर्म के कारण देव गति में उत्पन्न होनेवाले आत्मा (जीव) को देव कहते हैं। देवों को चार समूहों में विभाजित किया गया है-भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक । भवनवासियों के असुर, कुमार आदि दस भेद हैं। व्यंतरों के आठ भेद हैं किन्नर, किन्नपुरुष, गन्धर्व, महोरग, यक्ष, राक्षस, भूत और पिसाच[34]। ज्योतिषिक देव के पाँच भेद हैं[35] - सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र एवं तारे। वैमानिक देवों के बारह भेद हैं [36] - सौधर्म, ऐशान, सानत कुमार, माहेन्द्र, बह्मोत्तर, लान्तव, काबिष्ट, शुक्, महाशुक्, शतार और सहस्त्रार आदि।

मनुष्यात्मा :

मनुष्य गति नाम कर्म के उदय से मनुष्य पर्याय में उत्पन्न होने वाला जीव मनुष्य कहलाता है। मनुष्यों के आर्य, म्लैच्छ, गर्भज, संमूर्च्छन आदि भेद हैं [37]।

तिर्यंचात्मा :

तिर्यंच गति नाम कर्म के उदय से तिर्यंचपर्याय में उत्पन्न होनेवाला जीव तिर्यंच जीव कहलाता है। इसके एकेन्द्रिय सूक्ष्म, एकेन्द्रिय बादर, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरेन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय आदि भेद हैं [38]।

नारकी आत्मा :

नरक गति नाम कर्म के उदय से नारकी पर्याय में उत्पन्न होनेवाला जीव(आत्मा) नारकी जीव कहलाता है। रत्नप्रभा आदि भूमियों की अपेक्षा से नारकी जीव के सात भेद हैं [39]।

(घ) चर-अचर की अपेक्षा जीव के भेद :

चर - अचर की अपेक्षा जीव के दो प्रकार हैं - (1) चर जीव और अचर जीव [40]।

चर जीव :

द्वीन्द्रिय आदि जंगम प्राणियों को चर कहा गया है।

अचर जीव :

पृथ्वीकाय आदि स्थावर प्राणियों को अचर कहा गया है [41]।

(ङ.) वेद (लिंग) की अपेक्षा जीव के भेद :

जो वेदा जाता है, उसे वेद कहते हैं। इसका अपर नाम लिंग हैं। इसके तीन भेद हैं - स्त्री, पुरुष एवं नपुंसक [42]।

(च) शुद्धि - अशुद्धि की अपेक्षा जीव के भेद :

शुद्धि-अशुद्धि की अपेक्षा जीव के दो भेद हैं- (१) भव्य जीव (२) अभव्य जीव [43]। जिस जीव में मुक्त होने की शक्ति होती है, उसे भव्य जीव कहते हैं तथा जिसमें मुक्त होने की शक्ति नहीं होती है, उसे अभव्य जीव कहते हैं।

इसके सिवाय अवगाहना की अपेक्षा से जीव के अनन्त भेद हैं [44]। साथ ही स्थिति [45] एवं ज्ञान-दर्शन [46] की अपेक्षा इसके अनन्त भेद होते हैं।

अजीव तत्व :

जीव के विपरीत अजीव होता है। इसमें चेतना के अभाव होने के कारण यह अचेतन होता है। इसे जड़ भी कहा जाता है। अजीव तत्व के पाँच भेद होते हैं[47] - पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इसका विस्तृत वर्णन द्रव्य विमर्श में आगे किया जायेगा।

पुण्य तत्व :

जो पुद्‌गल कर्म शुभ है, वह पुण्य है [48]। सर्वज्ञ देव ने कर्मों की 42 शुभ प्रकृतियों को पुण्य माना है। यहाँ सर्वज्ञ का निर्देश करने से ग्रन्थकार का अभिप्राय यह है कि पुण्य-पदार्थ आगम का विषय है जिसका विस्तार से वर्णन जिन शासन में किया गया है [49]।

पाप तत्व :

जो पुद्‌गल कर्म अशुभ है, वह पाप है [50]। सर्वज्ञ देव ने कर्मों की 82 अशुभ प्रकृतियों को पाप स्वरुप माना है। इसका भी विस्तार पूर्वकवर्णन जिनशासन में किया गया है [51]।

आस्रव तत्व :

आस्रव भी एक तत्व है। आस्रव का अर्थ द्वार होता है। काय, वचन और मन की क्रिया योग है और वही योग आस्रव है,[52] क्योंकि योग के निमित्त से जीव में कर्मों का आगमन

होता है। अतः कर्मों का आगमन द्वार ही आस्रव है।

आस्रव दो प्रकार के हैं- पुण्यास्रव और पापास्रव । आगमविहित विधि के अनुसार जो मन, वचन, काय की प्रवृत्ति होती है, उससे पुण्य कर्म का आस्रव होता है। अर्थात् शुद्ध योग से पुण्य कर्म का आगमन होता है। स्वेच्छापूर्वक प्रवृत्ति करने से पाप कर्म का आस्रव होता है। अर्थात् अशुद्ध योग से पाप कर्म का आगमन होता है [53]।

मिथ्या दर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग - आस्रव के कारण हैं। जब मिथ्या दृष्टि जीव के मिथ्या दर्शन का उदय होता है, तब वह कर्मबंध से युक्त होता है। सम्यक् दृष्टि होकर भी जो जीव हिंसा आदि पापों से विरत नहीं होता है, इसके भी कर्मों का आस्रव होता है। सम्यक् दृष्टि और पाँच पापों से विरत होकर भी जो प्रमादी होता है, उसके भी कर्मों का आस्रव होता है। जो जीव निद्रा, विषय, कषाय, विकट एवं विकथा- इन प्रमादों से युक्त होता है, वह भी कर्मबंध से लिप्त हो जाता है। यघपि प्रमाद में ही कषाय का अन्तर्भाव हो जाता है, फिर भी कषाय के अत्यधिक बलवान् होने के कारण कथन अलग से किया गया है। वास्तव में कषाय बलवान है [54]। इसलिए राग-द्वेषमयी कषाय को कर्मास्रव का कारण माना गया है और मिथ्यत्व, अविरति, प्रमाद और योग को राग और द्वेष की सेना माना गया है। अतः राग-द्वेष ही आस्रव का प्रमुख कारण है [55]।

संवर तत्व :

आस्रव का विरोधी तत्व संवर है। इसलिए आस्रव के बाद उसका वर्णन किया गया है जो निम्न प्रकार है :

आस्रव का रुक जाना संवर है। सम्यक्त्व देश एवं महाव्रत, अप्रमाद, मोह तथा कषायहीन शुद्धात्म परिणति तथा मन, वचन, काय के व्यापार की निवृति - ये सब नवीनकर्मों के निरोध के हेतु होने से संवर हैं। अतः आस्रव का निरोध ही संवर है [56]। संवर जीव के लिए बड़ा ही उपकारी माना गया है, क्योंकि यह मोक्ष का कारण है [57]।

निर्जरा तत्व :

यह भी एक महत्वपूर्ण तत्व है। निर्जरा का अर्थ झड़ना होता है। संवर के आचरण करने से आनेवाले नवीन कर्म रुक तो जाते हैं, पर जब तक पुराने बँधे हुए कर्मों को पृथक नहीं कर दिया जाता है, तब तक आत्मा शुभ या अशुभ भाव प्राप्त करता ही रहता है और इन भावों के कारण नवीन कर्मों का बंधन होता रहता है। उन बंधे हुए कर्मों को आत्मा से अलग कर देना निर्जरा है। इसीलिए संवर से मुक्त जीव के तप उपधान को निर्जरा कहा गया है [58]। यहाँ उपधान का अर्थ तकिया होता है। जिस प्रकार तकिया सिर के लिए सुख का कारण होता है, उसी प्रकार तप भी जीव के सुख का कारण है। तप करने से सुख की प्राप्ति होती है और तप को ही उपधान माना गया है।

कर्मों की निर्जरा की विधि पर प्रकाश डालते हुए बतलाया गया है कि संवरयुक्त मनुष्य ही कर्मोंकी निर्जरा कर सकता हैं क्योंकि आस्रव के द्वार के बन्द हो जाने पर नये कर्मों का आगमन रुक जाता है और पूर्व बंधे हुए कर्म तपस्या के फलस्वरुप प्रतिक्षण नष्ट होते रहते हैं। जिस प्रकार बढ़ा हुआ भी अर्जीण खाना बन्द करके लंघन करने से प्रतिदिन क्षय होता है, उसी प्रकार संसार में भ्रमण करते हुए जीव जो ज्ञानावरणादि कर्म बाँध रखे है, चतुर्थक, अष्टम, दशम एवं द्वादश आदि तपों के द्वारा वे नीरस हो जाते हैं, जिसके परिणाम स्वरुप बिना फल दिए ही वे कर्म, मसले गये फूल की तरह आत्मा से झड़ जाते हैं [59]।

निर्जरा का प्रमुख कारण तप है। यह इच्छाओं का निरोध करता है। इसके दो भेद हैं[60]- (क) बाह्य तप और (ख) आभ्यन्तर तप। बाह्य पदार्थों के अवलम्बन से किया गया तप बाह्य तप एवं आन्तरिक अवलम्बन से किया गया तप, आभ्यान्तर तप है।

बाह्य तप के अनशन, अवमोदार्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रस त्याग, विविक्त शय्यासन, काय क्लेश- छह भेद हैं [61]।आभ्यन्तर तप के भी छह भेद हैं- प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग, ध्यान [62]। इस प्रकार तप निर्जरा का प्रमुख कारण है।

बंध तत्व :

योग के व्यापार से कर्म-रज का बन्ध होता है। योग मन, वचन और काय की क्रिया है। जीव के अशुद्ध भावों से बन्ध होता है। अशुद्ध जीव कषाय से युक्त होता है। वह कर्मयोग्य पुद्गलों की ग्रहण करता है जिससे वह कर्मों से बँध जाता है। इस प्रकार कर्म-प्रदेशों का आत्म प्रदेशों में एक क्षेत्रावगाह हो जाना बंध है [63]।

बंध भेद :

बन्ध के चार भेद हैं[64] - (क) प्रकृति बन्ध (ख) स्थिति बन्ध (ग) अनुभव बन्ध (घ) प्रदेश बन्ध। ये चारो कर्मबन्ध उत्कृष्ट, मध्यम एवं जघन्य (मंद) की अपेक्षा से तीन-प्रकार के होते हैं।

कर्म-बंध के कारण :

कर्म बंध का मूल कारण कषाय है। इसके प्रमुख अंग मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और योग हैं। कषाय मिथ्यात्व आदि की सहायता से आठ प्रकार के कर्मबंध के कारण होता है। इस प्रकार कषाय ही बंध का मूल कारण है [65]।

मोक्ष - तत्व :

यह एक महत्वपूर्ण तत्व है। बंध का विरोधी तत्व मोक्ष है। इसलिए बन्ध के बाद मोक्ष का कथन किया गया है जिसका उल्लेख इस प्रकार है-

मोक्ष का अर्थ है मुक्त होना। संसारी आत्मा कर्मबन्ध से युक्त होता है । अतः आत्मा

और बन्ध का अलग हो जाना मोक्ष है। मोक्ष शब्द 'मोक्ष आसने' धातु से बना है, जिसका अर्थ छूटना या नष्ट होना होता है। अतः समस्त कर्मों का समूल आत्यन्तिक उच्छेद होना मोक्ष है [66]। मनुष्य गति से ही जीव का मोक्ष होना संभव है। जो जीव मोक्ष प्राप्त करता है, उसे मुक्त जीव कहा जाता है। तब मुक्त जीव शरीर रुपी बन्धन का त्याग कर समस्त कर्मों कों क्षय करता है, तब वह मनुष्य लोक मे नहीं ठहरता है। स्वाभाविक उर्ध्वगति के कारण वह लोक शिखर पर जा विराजता है [67]।

मुक्त जीव को शारीरिक सुख नहीं होता है, क्योंकि शरीर और मन के सम्बन्ध से शारीरिक एवं मानसिक दुःख होता है। जबकि मुक्त जींव शरीर एवं मन के अभाव के कारण दुःखी नहीं होता है [68]। अतः सिद्ध जीव का सिद्धि सुख स्वतः सिद्ध है [69]।

उपर्युक्त विश्लेषण से सिद्ध होता है कि प्रशमति प्रकरण एक सत्य-विषयक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसमें जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध एवं मोक्ष - 9 तत्वों का सम्यक् निरुपण हुआ है। इस प्रकार तत्व-विषयक यह ग्रन्थ भव्य प्राणियों के लिए बहुपयोगी है।

(ख) द्रव्यस्वरुप - भेद विमर्श :

भारतीय दर्शन में द्रव्य-चिन्तन एक महत्वपूर्ण विषय है, क्योंकि दर्शन का प्रारम्भ ही द्रव्य चिन्तन से होता है। इसलिए जैन धर्म के पूज्य तीर्थंकरों का उपदेश भी द्रव्य स्वरुप मूलक ही रहा है। साथ ही गणधरों एवं आचार्यों ने भी अपने-अपने ग्रन्थों में किसी न किसी रुप में द्रव्य का विवेचन अवश्य किया है। इसलिए द्रव्य - चिन्तन एक प्रमुख विषय है।

सम्पूर्ण जैन वांगमय चार भागों में विभक्त किया गया है जिनमें द्रव्यानुयोग भी एक है। इसका मुख्य विषय तत्व एवं द्रव्य का विवेचन करना है। इस प्रकार द्रव्यानुयोग विषयक - प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नयमसार, तत्वार्थसूत्र, सवार्थ सिद्धि, तत्वार्थाधिगभाष्य, तत्वार्थसार, द्रव्य संग्रह आदि अनेक ग्रन्थ हैं जिनमें द्रव्य का प्रतिपादन और विश्लेषण विशुद्ध रुप से प्राप्त होता है।

प्रशमरति प्रकरण भी द्रव्यानुयोग विषयक एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसमें तत्व एवं द्रव्य दोनों का सम्यक् निरुपण हुआ है। जबकि तत्व का निरुपण पहले ही किया जा चुका है यहाँ द्रव्य स्वरुप-भेद विमर्श प्रस्तुत करना अपेक्षित रह गया है। इसलिए इसका उल्लेख निम्न प्रकार किया जा रहा है :

लोक-अलोक के विभाजन का आधार द्रव्य है। छः द्रव्यों के समूह को लोक कहा गया है[70]। इन द्रव्यों को सत् कहा गया है यानी किसी ने इन्हे बनाया नहीं है। ये स्वभाव सिद्ध, अनादि निधन एवम् अनन्यमय हैं। फिर भी एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से मिल नहीं सकता क्योंकि सभी द्रव्य अपन-अपने स्वभाव में स्थिर रहते हैं। परन्तु ये परस्पर में एक दूसरे को अवकाश देते हैं [71]।

द्रव्य स्वरुप :

प्रशमरति प्रकरण में द्रव्य की परिभाषा देते हुए बतलाया गया है कि द्रव्य सत् स्वरुप एवम् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से युक्त है। अर्थात् जो अपने स्वभाव का परित्याग न करता हुआ उत्पत्ति, एवं ध्रुवत्व से युक्त है, वह द्रव्य कहलाता है [72]।

प्रशमरति प्रकरण में द्रव्य की जो परिभाषाएं दी गयी हैं, उनकी निम्नांकित दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :

(क) जो सत्तावान् है, उसे द्रव्य कहते हैं।

(ख) जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला है, उसे द्रव्य कहते हैं।

द्रव्य सत् रुप है :

द्रव्य का प्रथम लक्षण सत्ता स्वरुप होना है। यह द्रव्य का सामान्य लक्षण है। इसका तात्पर्य यह है कि द्रव्य सत् स्वरुप है। द्रव्य और सत्ता अलग अलग दो चीजें नहीं हैं, बल्कि दोनों अभिन्न हैं। सत् के बिना द्रव्य की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। यद्यपि सत् और द्रव्य स्वरुपादि की अपेक्षा भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु यर्थाथ में वे दोनो एक ही हैं [73]।

इस प्रकार सत्ता एक है, समस्त पदार्थों में स्थित एवं उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरुप है। इसकी दूसरी विशेषता यह प्रस्फुटित होती है कि द्रव्य किसी से उत्पन्न नहीं होता है तथा यह स्वयंभू और अविनाशी है। द्रव्य तो सत् स्वरुप ही है और सत् कभी असत् रुप नहीं हो सकता है, पर्याय ही उत्पन्न और विनष्ट होती रहती है। तीसरी बात यह है कि द्रव्य के इस लक्षण में द्रव्य गुणी है और सत्ता गुण है [74]।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि यदि द्रव्य को सत् स्वरुप न माना जाय तो उसे असत् रुप मानना पड़ेगा, जो किसी भी भारतीय दार्शनिकों का अभीष्ट नहीं है। इसलिए सिद्ध है कि द्रव्य सत्ता स्वरुप है।

प्रशमरति प्रकरण में ही सत् को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरुप वाला कहा गया है। द्रव्य का यह स्वभाव है कि वह परिणामी है। द्रव्य का परिणम न करना स्वभाव ही है और वह स्वभाव उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य सहित है। ऐसी किसी भी सत्ता की कल्पना नहीं की जा सकती है, जिसमें उत्पाद-व्यय -ध्रौव्य-ये तीन परिणाम न होते हों। वर्तमान पर्यायों का विनष्ट होना व्यय है और नवीन पर्यायों का उत्पन्न होना उनपाद और इन दोनों अवस्थाओं में प्रवाहित रखना ध्रौव्य है। इसको हम उदाहारण द्वारा स्पष्ट कर सकते है- जैसे मिट्टी का पिण्ड है। उस मिट्टी के पिण्ड से द्रव्य घटादि बनाया जाता है, तो पिण्ड पर्याय का विनाश होता है और घट पर्याय का उत्पाद होता है। मिट्टी इन दोनों अवस्थाओं में मौजूद रहती है [75]।

द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरुप है :

द्रव्य का दूसरा लक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरुप होना बतलाया गया है। ऐसा कहने का तात्पर्य यह है कि द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य आपस में संयुक्त है यानी आपस में भिन्न नहीं हैं। द्रव्य की किसी भी क्षण ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती है, जिसमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य परिणाम न हो [76]।

उत्पादादि तीनों एक ही वस्तु के अंश हैं :

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य - इन तीनों से युक्त वस्तु होती है। इनसे भिन्न वस्तु या द्रव्य की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। ये वस्तुएं स्वतः सिद्ध हैं। जिस प्रकार से बीज, अँकुर और वृक्षत्व अंश है और वृक्ष अंशी है, उसी प्रकार से द्रव्य अंशी है और उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य अंश हैं। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य ये पर्याय के आश्रित हैं और पर्याय द्रव्य से भिन्न नहीं है। इसलिए सिद्ध है कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य आदि द्रव्य से भिन्न नहीं है [77]।

उत्पादादि तीनों भिन्न-भिन्न नहीं है :

उत्पाद आदि तीनों परिणाम परस्पर में अभिन्न हैं। व्यय के बिना उत्पाद और उत्पाद के बिना व्यय की कल्पना ही नहीं की जा सकती है और उत्पाद व्यय - ये दोनों ध्रौव्य के बिना सम्भव ही नहीं हैं। इसी प्रकार उत्पाद, व्यय के बिना ध्रौव्य भी नही हो सकता है। इससे सिद्ध है कि उत्पादादि तीनों एक ही हैं। यहां हम अपने उस कथन का स्पष्टीकरण उदाहरण देकर करने का प्रयास करते हैं। जिस समय कुम्भकार घड़ों का निर्माण करता है उस समय घड़ों के उत्पाद के साथ ही साथ मृत पिण्ड का विनाश भी होता है। ऐसा नहीं है घड़े का उत्पाद हो गया और पिण्ड का विनाश न होता हो और उस उत्पाद व्यय के समय दोनों अवस्था में मिट्टी का होना ध्रुवता है, क्योंकि द्रव्य के स्थिर हुए बिना पर्यायों की कल्पना हीं नहीं की जा सकती है। उपर्युक्त उदाहरण से यह सिद्ध हो जाता है कि उत्पाद आदि तीनों परस्पर में अलग-अलग नहीं हैं, बल्कि एक ही् हैं [78]।

उत्पादादि तीनों का भिन्न-भिन्न काल हो अर्थात् तीनों भिन्न-भिन्न समय में होते हैं, ऐसी बात नही है। बल्कि इनका समय एक ही है, क्योंकि मिट्टी एक ही समय में पिण्ड रुप से उत्पन्न होती है एवं विनष्ट होती है। और ध्रुवता उन दोनों में हमेशा विद्यमान रहती है, क्योंकि इस बात का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं कि पर्याय उत्पादादि पर निर्भर है [79]। अतः सिद्ध होता है कि द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरुप है।

द्रव्य के उपर्युक्त दो लक्षणों का हमने यथासम्भव उदाहरण द्वारा विवेचन किया। द्रव्य के जो दो लक्षण बतलाये गये हैं, वे एक दूसरे से भिन्न हों ऐसी बात नहीं है। इसके कथन करने की दृष्टि से भेद दिखलाई पड़ते हैं, जो शब्दात्मक है, वास्तविक नहीं। हमने विवेचन करके यह दिखलाने का प्रयत्न किया हैं कि उपयुक्त दोनों लक्षणों में से एक लक्षण करने पर शेष

लक्षण का अन्तर्भाव हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि द्रव्य सत् है ऐसा द्रव्य का लक्षण कहने पर उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य में द्रव्य के लक्षण समाविष्ट हो जाते हैं, क्योंकि सत् कथंचित अनित्य होता है । नित्य कहने से ध्रौव्य और अनित्य कहने से पर्यायों का बोध होता है। ध्रौव्य कहने से गुणों का। अतः सिद्ध है कि उपर्युक्त द्रव्य के दोनों लक्षण एक ही हैं, उनमें शाब्दिक अन्तर है, वास्तविक नहीं है।

द्रव्य की अन्य विशेषताएँ :

द्रव्य स्वतंत्र होता है। द्रव्य स्वयंभू है। यह अविनाशी है। यह अपना स्वभाव कभी नहीं छोड़ता है। यह परिणामी है।

द्रव्य-भेद :

प्रशमरति प्रकरण में द्रव्य का वर्गीकरण विभिन्न प्रकार से किया गया है, जो निम्नांकित है :

चेतन-अचेतन की अपेक्षा :

संक्षेप में द्रव्य दो प्रकार का है [80] - चेतन और अचेतन। चेतन को जीव और अचेतन को अजीव भी कहते हैं, क्योंकि जीव में चेतन गुण है और अजीव में चेतना गुण नहीं है। जिस द्रव्य मे चेतना गुण हो, वह चेतन द्रव्य है। जीव चेतन द्रव्य है। शेष धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, आकाशास्तिकाय,कालास्ति - ये पाँच अचेतन द्रव्य हैं।

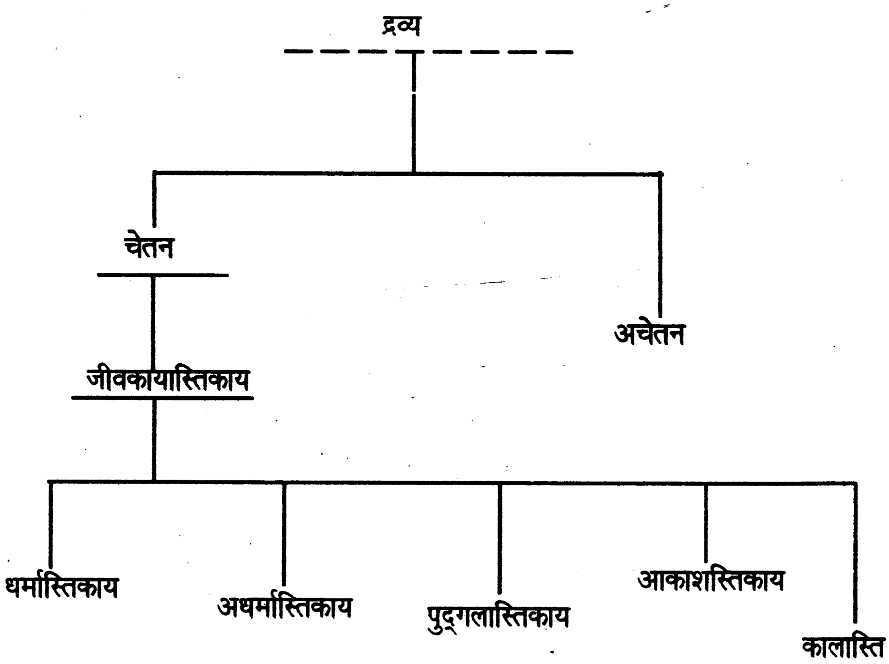

मूर्त और अमूर्त की अपेक्षा :

मूर्त और अमूर्त की अपेक्षा द्रव्य के दो भेद है [81] - (1) मूर्त द्रव्य (2) अमूर्त द्रव्य।

मूर्त द्रव्य :

जिसमें रुप, रस, गन्ध और स्पर्श इन्द्रियों के विषय में पाये जाते हैं, उसे मूर्त द्रव्य कहते हैं।

अमूर्त द्रव्य :

जिस द्रव्य में रुप, रस, गन्ध शब्द और स्पर्श नहीं पाया जाता है, वह अमूर्त द्रव्य है। मूर्तिक द्रव्य एक है और वह है पुद्‌गल। जीव, धर्म, अधर्म, आकाश और काल - ये पाँच अमूर्तिक हैं, क्योंकि उनमें स्पर्श, रस, गन्ध, रुप और शब्द नहीं है। केवल पुद्‌गल मूर्तिक हैं क्योंकि इसमें स्पर्श, रस, गन्ध,रुप तथा शब्द विद्यमान है।

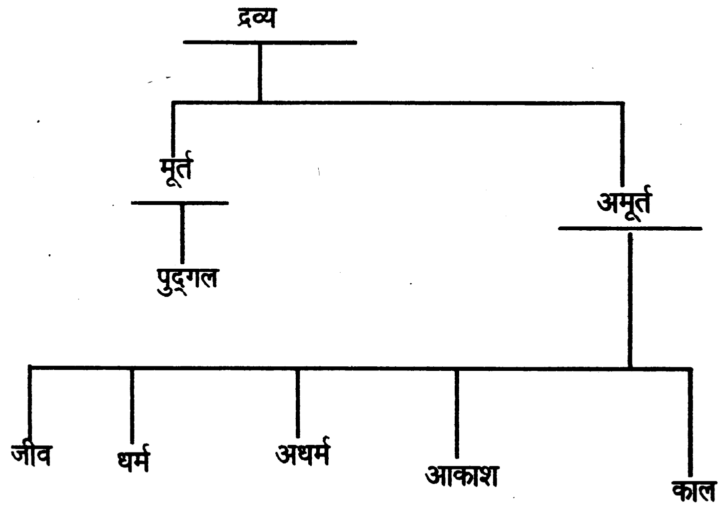

सक्रिय और निष्क्रिय की अपेक्षा :

सक्रिय और निष्क्रिय की अपेक्षा द्रव्य दो प्रकार का होता है- (1) सक्रिय (2) निष्क्रिय।

सक्रिय द्रव्य :

जिस द्रव्य में हलन-चलन की क्रिया होती है, वह सक्रिय द्रव्य कहलाता है। जैसे जीव और पुद्‌गल।

निष्क्रिय द्रव्य :

हलन-चलन की क्रिया से जो रहित है, वह निष्क्रिय द्रव्य है। धर्म, अधर्म, आकाश और

काल ये निष्क्रिय द्रव्य हैं, क्योंकि इनमें हलन-चलन नहीं होती है।

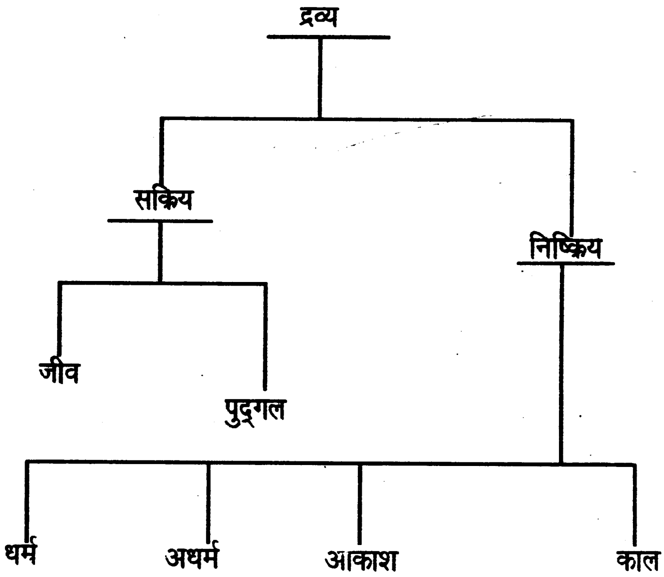

एक-अनेक की अपेक्षा :

एक-अनेक की अपेक्षा द्रव्य के दो भेद हैं- (1) एक और (2) अनेक धर्म, अधर्म, आकाश एक है, शेष जीव, पुद्‌गल और काल अनेक हैं [82]।

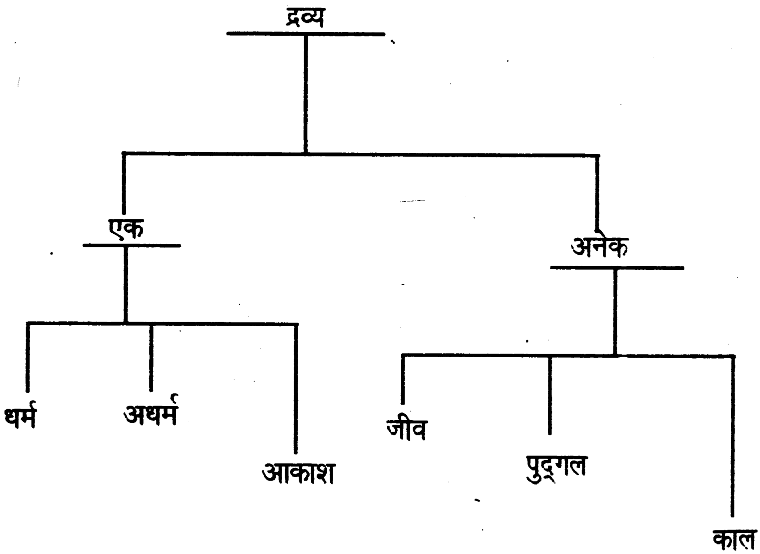

नित्यानित्य की अपेक्षा :

नित्य - अनित्य की अपेक्षा द्रव्य दो प्रकार का है - (1) नित्य (2) अनित्य।

नित्य द्रव्य :

जो द्रव्य अपने भाव से च्युत न हो वही नित्य है। जैसे - धर्म, अधर्म, आकाश, काल।

अनित्य द्रव्य :

जो द्रव्य अपने भाव को छोड़ देता है, वह अनित्य है। जीव और पुद्गल अनित्य द्रव्य हैं, क्योंकि इनमें व्यंजन पर्यायें पायी जाती हैं जो सदैव बदलती रहती हैं।

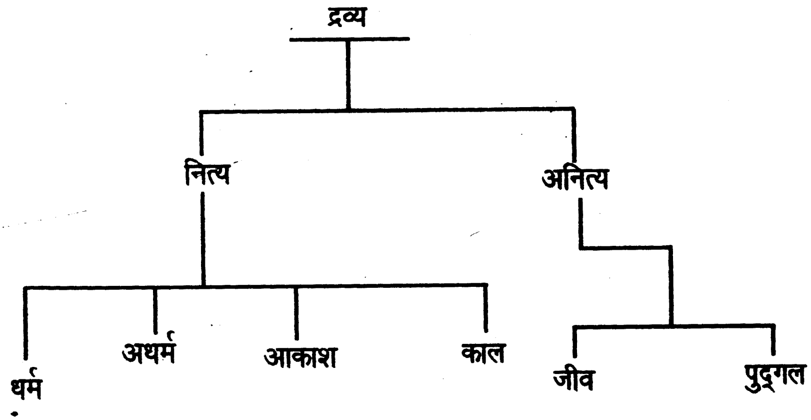

अस्तिकाय और अनास्तिकाय की अपेक्षा :

अस्तिकाय और अनास्तिकाय की अपेक्षा द्रव्य दो प्रकार के होते हैं (1) अस्तिकाय (2) अनास्तिकाय।

अस्तिकाय और अनास्तिकाय :

जिस द्रव्य के प्रदेश बहुत होते हैं, वह अस्तिकाय द्रव्य है अर्थात् बहुप्रदेशी द्रव्य को अस्तिकाय कहते हैं और एक प्रदेशी को अनास्तिकाय कहते हैं। जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल - ये सभी अस्तिकाय द्रव्य हैं, क्योंकि ये बहुप्रदेशी होते हैं। पुद्गल द्रव्य एक प्रदेशी है, परन्तु परमाणु शक्ति की अपेक्षा अस्तिकाय कहलाता है। अर्थात् स्कन्ध रुप होने पर वह बहुप्रदेशी हो जाता है, इसलिए उसे उपचार से अस्तिकाय ही कहा जाता है। केवल काल द्रव्य अनास्तिकाय है, क्योंकि वह एक प्रदेशी होता है [83]।

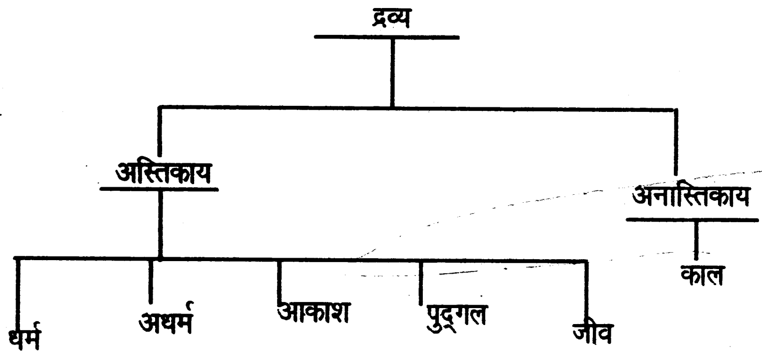

क्षेत्रवान और अक्षेत्रवान की अपेक्षा :

जो द्रव्य ठहरने के लिए जगह देता है, वह क्षेत्रवान है और जो द्रव्य ठहरने के लिए स्थान नहीं देता, वह अक्षेत्रवान है। छह द्रव्यों में से केवल आकाश द्रव्य क्षेत्रवान है, क्योंकि वह समस्त द्रव्यों को अवगाहन प्रदान करता है। शेष द्रव्य जीव, धर्म, अधर्म, पुद्गल एवं काल अक्षेत्रवान हैं, क्योंकि इनमें अवगाहन-शक्ति मौजूद नहीं है।

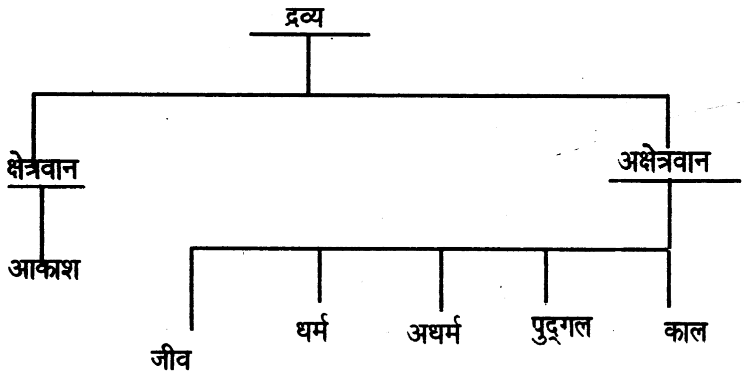

व्यापक और अव्यापक की अपेक्षा :

व्यापक और अव्यापक की अपेक्षा द्रव्य के दो भेद हैं - (१) व्यापक और (२) अव्यापक

व्यापक और अव्यापक :

व्यापक द्रव्य वह है, जो सर्वगत है। अर्थात् सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हो और अव्यापक द्रव्य वह है, जो सर्वगत नहीं है। आकाश, धर्म, अधर्म व्यापक महास्कंध की अपेक्षा असर्वगत हैं। काल भी कालाणु द्रव्य की अपेक्षा असर्वगत है और लोक प्रदेश के बराबर असंख्यात कालाणु की अपेक्षा सर्वगत है [84]।

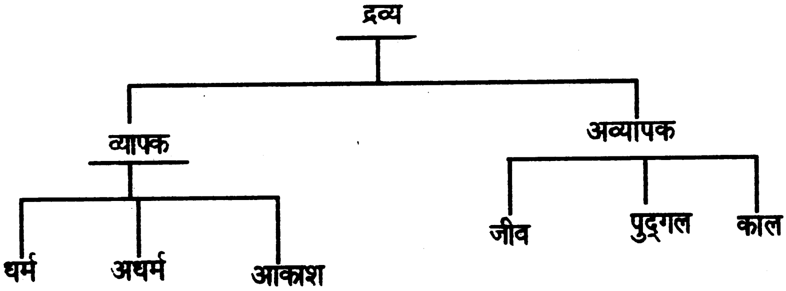

कर्त्ता - भोक्ता की अपेक्षा :

कर्त्ता - भोक्ता की अपेक्षा द्रव्य दो प्रकार के हैं - (1) कर्त्ता उपभोक्ता (2) अपकर्त्ता उपभोक्ता। जो द्रव्य अपने कर्म भाव का उपभोग करे, वह कर्त्ता उपभोक्ता है और जो कर्मभाव का उपभोग न करे, वह अपकर्त्ता उपभोक्ता है। केवल जीव द्रव्य उपभोक्ता है। शेष द्रव्य अपकर्ता उपभोक्ता हैं [85]।

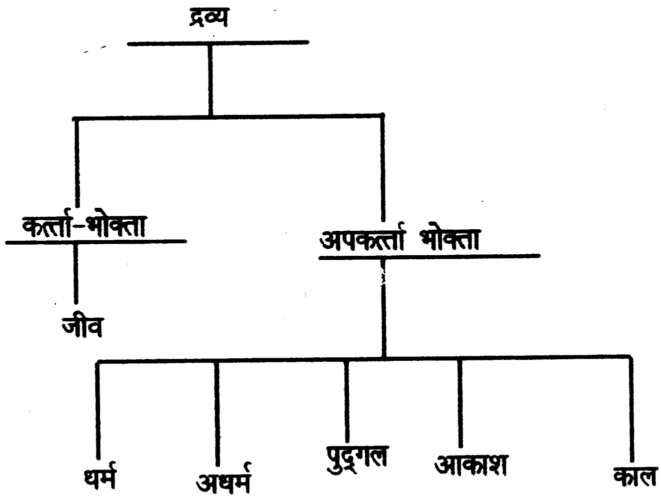

उक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि द्रव्य के मुख्यतः दो भेद हैं - जीव और अजीव। अजीव के पाँच भेद हैं - पुद्ग‌ल, धर्म, अधर्म, आकाश, और काल। इस प्रकार द्रव्य के छह भेद हो गये हैं जिसका विस्तारपूर्वक वर्णन क्रमशः निम्न प्रकार किया गया है :

जीव द्रव्य :

जीव एक प्रमुख द्रव्य है। जैन दर्शन में आत्मा और जीव - ये दोनों एक ही माने गये हैं। यद्यपि जीव से तात्पर्य संसारी जीव से लिया जाता है और आत्मा का तात्पर्य मुक्त जीव से, लकिन इनके अर्थों में कोई अन्तर नहीं है।

आचार्य उमास्वाति ने जीव की व्युत्पति करते हुए बतलाया है कि जो दस प्रकार के द्रव्य और भाव प्राणों (पाँच इन्द्रिय+मन-वचन-काय तीन बल+एक आयु+एक श्वासोच्छवास) से वर्तमान समय मे जीता है, भूतकाल में जीता था और भविष्य में जो जीता रहेगा, उसे जीव कहते हैं [86]।

प्रशमरति में उमास्वाति ने जीव लक्षण उपयोग बतलाया है। उपयोग आत्मा के चेतन का परिणाम है। जिस जीव में उपयोग गुण है, वह जीव है और जिसमें यह गुण नहीं पाया जाता है, वह अजीव है। इस प्रकार उपयोग से जीव की पहचान होती है। इसलिए उपयोग ही जीव का लक्षण है। उपयोग दो प्रकार का है - ज्ञानोपयोग एवं दर्शनोपयोग [87]।

जीव द्रव्य अस्तिकाय गुणवान है [88]। इसमें स्पर्श, रस, गन्ध एवं वर्ण न होने के कारण अमूर्तिक है [89]। यह असंख्यात प्रदेशी है [90] और समस्त लोक में व्याप्त है, परन्तु सभी जीवों को इतना विस्तार नहीं प्राप्त होता। जिस प्रकार यदि पद्मराग मणि को दूध में डाल दिया जाय तो दूध के परिणाम के प्रमाण में उसका प्रकाश होता है, इसी प्रकार जीवात्मा जिस शरीर में रहता है उसी के अनुसार प्रकाशक होता है। जैसे एक देह में आरम्भ से अन्त तक एक ही जीव रहता है, उसी प्रकार सर्वत्र सांसारिक अवस्थाओं में जीव रहता है। यद्यपि जीव गृहीत शरीर से अभिन्न सा दिखाई देता है, पर वास्तव में देह और जीव भिन्न-भिन्न हैं। जीव की स्थिति लोक के असंख्यातवें भाग आदि में होती हैं, क्योंकि प्रदीप की भांति जीव के प्रदेशों का संकोच-विस्तार होता है [91]। वह शुभ-अशुभ कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता है [92]।

जीव द्रव्य के भेद :

उमास्वाति ने संक्षेप में जीव के दो भेद बतलाये हैं (१) मुक्त (२) संसारी। जो जीव अष्ट कर्मों से मुक्त हो गये हैं, अर्थात् जिन्हें संसार में उत्पन्नमरणादि पूर्वक संसरण नहीं करना पड़ता है, वे मुक्त जीव हैं इसलिए ये भेद रहित हैं। जो आठ प्रकार के कर्मों से युक्त होने के कारण संसार में सदैव जन्म, मरणपूर्वक भ्रमण करते रहते हैं, वे संसारी जीव हैं [93]।

संसारी जीव के भेद :

काय की अपेक्षा संसारी जीव के दो भेद हैं - त्रस और स्थावर । त्रस के पाँच भेद हैं [94]- एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरेन्द्रिय, पंचेन्द्रिय। स्थावर के भी पाँच भेद हैं - पृथ्वीकाय, जलकायिक, वायुकायिक, अग्निकायिक एवं वनस्पतिकाय [95]।

भाव की अपेक्षा जीव के पाँच भेद हैं [96]। स्थिति, अवगाह, ज्ञान, दर्शन आदि पर्यायों की अपेक्षा जीव के अनेक भेद हैं [97]।

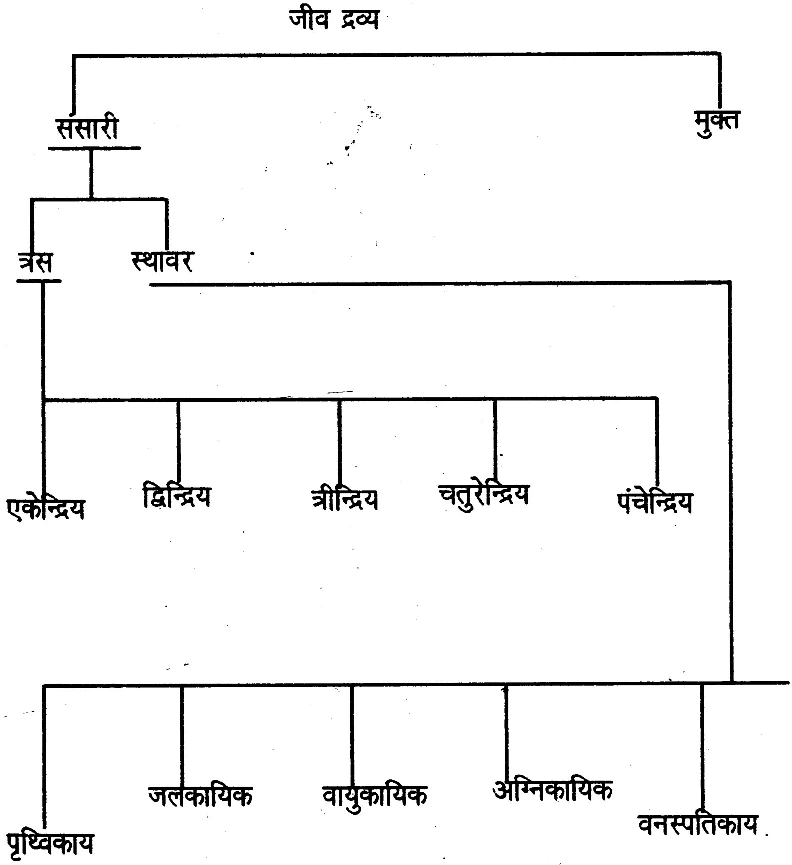

जीव के उपकार :

सम्यक्त्व, ज्ञान, चरित्र, वीर्य और शिक्षा - ये जीव के उपकार हैं, क्योंकि ये तत्वार्थ श्रद्वान् रुप सम्यक्त्व को उत्पन्न करते हैं, शास्त्रों को पढ़ते, चारित्र का पालन तथा उपदेश करते हैं, शक्ति का प्रदर्शन करते हैं। इसलिए सम्यक्त्व आदि जीव के उपकार हैं [98]।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन से युक्त आत्मा जो ज्ञान रुप परिणाम तत्वार्थ के श्रद्वान् से युक्त होता है, उसे ज्ञानात्मा कहते हैं, इसलिए सम्यग्दृष्टि की आत्मा ज्ञानात्मा होती है। सब जीवों के दर्शनात्मा होती हैं, क्योंकि सभी जीवों में चक्षु आदि दर्शन पाया जाता है। व्रतियों के चारित्रात्मा होती है और सब संसारी जीवों के वीर्यात्मा होती है। वीर्य शक्ति को कहते हैं। शक्ति सभी जीवों में पाई जाती है। अतः समस्त संसारी जीवों के वीर्यात्मा होती है। इस प्रकार जीवों के चार उपकार अत्यंत महत्वपूर्ण है [99]।

पुद्गल द्रव्य :

पुद्गल द्रव्य का अर्थ जैन दर्शन में वही है, जो अन्य भारतीय दर्शनों में भौतिक द्रव्य या

अचेतन द्रव्य का है। आजकल वैज्ञानिक जिसे जड़ द्रव्य कहते हैं, उसे ही जैन दार्शनिकों ने पुद्गल कहा है।

पुद्गल का स्वरुप :

प्रशमरति प्रकरण में आचार्य उमास्वाति ने स्पर्श, रस, गंध, रुप और वर्ण इन गुणों से युक्तवाले द्रव्य को पुद्गल कहा है [100]। अर्थात् स्पर्शादिवाला होना पुद्गल का पहचान है। इसके अतिरिक्त मूर्तत्व और अचेनत्व भी पुद्गल के विशेष गुण माने गये हैं। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि जैन दर्शन में प्रतिपादित छः द्रव्यों में से पुद्गल ही मूर्तिक द्रव्य हैं। इसे रुपी भी कहा जाता है क्योंकि इसमें रुप, रस, गंध, और स्पर्श - चारों गुण पाये जाते हैं। ये चारो गुण परस्पर में अविनाभावी हैं। इस प्रकार जितने भी परमाणु हैं, उन सबमें चारो ही गुण पाये जाते हैं। इसलिए वे रुपी कहे जाते हैं। यह अस्तिकाय द्रव्य है [101], क्योकि यह प्रदेश प्रचय वाला है। पुद्गल संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश वाले होते हैं।

यद्यपि पुद्गल एक प्रदेशी है, लेकिन फिर भी इसे अस्तिकाय माना गया है। इसका कारण यह है कि पुद्गल में निहित स्निग्ध और रुक्ष शक्तियों की अपेक्षा से इसे अस्तिकाय कहा गया है [102]।

पुद्गल के उपकार :

उमास्वाति ने अन्य द्रव्यों के साथ पुद्गल द्रव्य के भी उपकार का विवेचन किया है। प्रशमरति प्रकरण में उन्होंने कहा है कि स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, आकार, खण्ड, अन्धकार, छाया, चन्द्रमा आदि का प्रकाश, तथा संसारी जीवों के ज्ञानावरणादि कर्म, शरीर, मन, वचन, क्रिया, श्वासउच्छ्वास, सुख और दुःख तथा जीवन और मरण में सहायक स्कन्ध - ये सब पुद्गलकृत उपकार हैं [103]। यदि पुद्गल द्रव्य नही होता तो इन सबकी कल्पना करना भी असम्भव होता हैं। इस प्रकार पुद्गल द्रव्य जीव का बहुत बड़ा उपकार करता है। संसारी आत्मा और पुद्गल का परस्पर में घनिष्ट संबन्ध है। जबतक जीव मुक्त नहीं होता. तबतक पुद्गल संसारी आत्मा से अलग नही हो पाता।

पुद्गल द्रव्य के औदयिक और पारिणामिक भाव होते हैं। इसका परमाणु रुप अनादि है और द्वयणुक, बादल, इन्द्र, धनुष आदि परिणाम सादि हैं। परमाणु और स्कन्ध में रुपी-रस आदि परिणाम पाये जाते हैं तथा परमाणुओं के मिलने से जो द्वयणुक आदि परिणाम बनते हैं, वे औदयिक हैं। अतः पुद्गल में औदयिक और पारिणामिक भाव होते हैं [104]। यह कर्तृत्व पर्याय से रहित है [105]।

पुद्गल के भेद :

आचार्य उमास्वाति ने प्रशमरति प्रकरण में पुद्गल के दो भेद बतलाये हैं - (1) अणु (2) स्कन्ध [106]।

अणु :

पुद्‍गल का वह अन्तिम भाग, जिसका फिर विभाग न हो सके, अणु कहलाता है। अणु इतना सूक्ष्म होता है कि वह स्वयं ही आदि, मध्य और अन्त है। वह स्वयं एक प्रदेशी है। पुद्‍गल के सबसे छोटे अवयव को प्रदेश कहते हैं। अतः परमाणु बहुप्रदेशी न होने के कारण अप्रदेशी है। परन्तु अप्रदेशी में भी रुपादि गुण पाये जाते हैं। इसलिए गुणों की अपेक्षा से परमाणु भी सप्रदेशी ही है। वह नित्य है, क्योंकि उसका कभी नाश नहीं होता किन्तु, परमाणु अत्यंत सूक्ष्म होने के कारण दृष्टिगत नहीं होता है [107]।

उक्त विश्लेषण से परमाणु की निम्नलिखित विशेषताएं परिलक्षित होती हैं। परमाणु समस्त स्कन्धौं का अन्तिम भाग है। वह परमाणु नित्य है। वह शब्द रहित है। वह एक है एवं अविभागी है। परमाणु मूर्तिक है। यह परिणमनशील है। प्रदेश - भेद न होने पर भी स्पर्शादि को अवकाश देता है, इसलिए यह सावकाशी है। द्वितीयादि प्रदेशों को अवकाश न देने के कारण यह अनवकासी है। स्कन्धों का कर्त्ता और भेदक है। काल और संख्या का विभाजन है। एक रस, एक वर्ण, एक स्कन्ध दो स्पर्शवाला है। शब्द का कारण है, किन्तु कार्य नहीं है। यह भिन्न होकर भी स्कन्ध का घटक है। यह स्वयं आदि, स्वयं मध्य और स्वयं अन्तरुप है। यह इन्द्रिय ग्राह्‍य है [108]।

स्कन्ध :

पुद्‍गल का दूसरा भाग स्कन्ध है। आचार्य उमास्वाति ने प्रशमरति प्रकरण में स्कन्ध की परिभाषा देते हुए बतलाया है कि जो दो या दो से अधिक परमाणुओं के मेल से अथवा परस्पर में बंध जाने से उत्पन्न होता हैं, उसे स्कन्ध कहते हैं। अर्थात् अनेक परमाणुओं का संघात विशेष स्कंध है [109]।

जिस प्रकार दो परमाणुओं के मेल से द्वयणुक नामक स्कंध और तीन परमाणुओं के मेल से त्रयणुक नामक स्कंध होता है, इसी प्रकार अनन्त परमाणुओं के मेल से अनन्त स्कंध होती हैं। अतः परमाणुओं का मेल ही स्कन्ध उत्पत्ति का कारण है [110]।

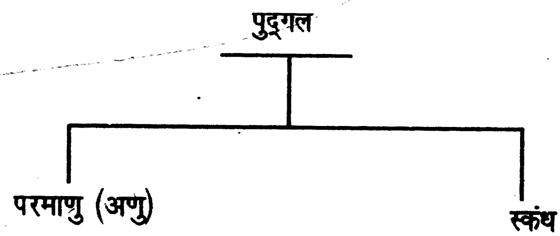

स्कंधबंध के हेतु :

स्कन्ध केवल परमाणुओं के सहयोग से ही नहीं बनता है, बल्कि जब चिकने और रुखे परमाणुओं का परस्पर एकत्व होता है तब स्कन्ध बनता है अर्थात स्कन्ध की उत्पत्ति के हेतु परमाणुओं का स्निग्धत्व और रुक्षात्व है [111]।

धर्मास्तिकाय :

धर्मास्तिकाय स्वरुप :

जैन दर्शन में मान्य छः प्रकार के द्रव्यों में धर्मास्तिकाय नामक द्रव्य की भी कल्पना है। यह द्रव्य जैन दर्शन में गति का सूचक माना गया है। इसका तात्पर्य यह है कि धर्मास्तिकाय सम्पूर्ण लोक में व्याप्त है। ऐसा कोई भी लोकाकाश का अंश नहीं है, जहाँ पर धर्मास्तिकाय न हो। धर्मास्तिकाय के गति में सहायक होने का तात्पर्य यह है कि वह गति शील द्रव्य की गति में एक मात्र निमित्त कारण है। वह किसी भी द्रव्य को गति करने के लिए प्रेरित नहीं करता है। आचार्य उमास्वाति ने प्रशमरति प्रकरण में इसके निमित्तपने का उदाहरण देते हुए बतलाया है कि जिस प्रकार पानी मछलियों के तैरने में मात्र सहायक है, प्रेरक नहीं, उसी प्रकार से धर्मास्तिकाय द्रव्य भी क्रियाशील द्रव्यों की गति में सहायक मात्र है, उसका प्रेरक नहीं [112]। इस प्रकार जीव और पुद्गल की गति में सहायक होने के कारण धर्मास्तिकाय एक स्वतंत्र द्रव्य है।

धर्मास्तिकाय के कारण ही लोक-अलोक का विभाग किया गया है। यदि धर्मास्तिकाय द्रव्य नहीं होता तो लोकालोक का विभाग ही समाप्त हो जाता। अतः लोकालोक के विभाग के सद्भाव से भी धर्मास्तिकाय की सत्ता सिद्ध होती है।

धर्मास्तिकाय अरुपी द्रव्य है, क्योंकि इसमें रस, रुप, गंध और स्पर्श-चारो गुणों का अभाव है [113]। यह सम्पूर्ण लोकाकाश में व्याप्त है, अखण्ड है, स्वभाव से विस्तृत है और पारमार्थिक दृष्टि से अखण्ड एक द्रव्य होने पर भी व्यावहारिक दृष्टि से असंख्य प्रदेश युक्त है[114]। वह क्रियाशील नहीं है[115] किन्तु भावशील अर्थात् परिणमनशील है।

उक्त विश्लेषण के आधार पर धर्मास्तिकाय की निम्नलिखित विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं :

यह एक अखंड द्रव्य है। यह अमूर्तिक है। यह असंख्यात प्रदेशी है। यह निष्क्रिय द्रव्य है। यह एक है। यह अस्तिकाय है। यह लोक में व्याप्त है। यह नित्य परिणामशील है। यह पारिणामिक भाववाला है। यह गति में निमित्त कारण है।

अधर्मास्तिकाय :

प्रशमरति प्रकरण में धर्मास्तिकाय की तरह अधर्मास्तिकाय द्रव्य की भी कल्पना की गयी

है। इसकी सभी विशेषताएँ धर्मास्तिकाय की तरह है। अंतर केवल इतना ही है कि धर्मास्तिकाय गति में सहायक कारण है और अधर्मास्तिकाय स्थिति में कारण है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार पथिकों के लिए छाया स्थित होने में सहायता करती है, उसी प्रकार से पुद्गल और जीव को स्थित होने में अधर्मास्तिकाय सहायक निमित्त कारण है, लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि जो रुकना नही चाहते, उन्हे जबरदस्ती रुकने के लिए प्रेरित करती हो। इस प्रकार अधर्मास्तिकाय स्थिति में निमित्त कारण है, प्रेरक कारण नहीं [116]।

आकाश द्रव्य :

जैन दर्शन में मान्य छः द्रव्यों में एक ऐसे भी द्रव्य की कल्पना की गयी है, जिसमें जीवादि पाँच द्रव्य रहते हैं। ऐसे द्रव्य को आकाश कहा गया है। प्रशमरति प्रकरण में आकाश की परिभाषा देते हुए बतलाया गया है कि जो द्रव्यों को अवकाश देता है, वह आकाश है[117]। इस प्रकार की शक्ति अन्य किसी भी द्रव्य में नहीं है। अतः अवगाहन विशेष शक्ति के कारण आकाश अन्य द्रव्यों से भिन्न द्रव्य है। यह आकाश द्रव्य अस्तिकाय स्वरुप वाला[118], नित्य, अवस्थित, अखण्ड[119], अरुपी,[120] निष्क्रिय, पारिणामिक भावला[121], एक ईकाई रुप एवं अनन्त प्रदेश वाला है।[122]

आकाश द्रव्य का उपकार समस्त द्रव्यों को अवकाश देना है [123]। जिस प्रकार स्वयं ही खेती में लगे हुए किसानों को वर्षा सहायक होती है, किन्तु, खेती न करनेवाले किसानों की बलपूर्वक खेती में नही लगाती है, जिस प्रकार मेघ की गर्जना को सुनकर मादा बगुलाओं के गर्भाधान अथवा प्रसव होता है। किन्तु, यदि बगुला स्वयं ही प्रसव न करे तो मेघ गर्जना उसे बलपूर्वक प्रसव नही कराती, उसी प्रकार आकाश द्रव्य स्वयं ही अवकाश के इच्छुक द्रव्य को अवकाश दान करता है। वह बलपूर्वक किसी को अवकाश नहीं देता । इस प्रकार आकाश द्रव्य अपने कार्यों के प्रति उदासीन कारण है, प्रेरक कारण नहीं है [124]।

आकाश द्रव्य की विशेषताएँ :

उक्त तथ्यों के आधार पर आकाश द्रव्य की निम्नलिखित विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं: आकाश द्रव्य नित्य है। आकाश द्रव्य उपस्थित है। यह द्रव्य अल्पी है। यह एक अखंड द्रव्य है। यह निष्क्रिय है। यह सप्रदेशी है। यह उपर, नीचे, तिरछे सर्वत्र फैला है। अवगाहना देना इसका उपकार है। यह द्रव्य अचेतन है। आकाश द्रव्य स्वयं अपने आधार से स्थित है, दूसरा कोई अन्य आधार नहीं है।

आकाश द्रव्य के भेद :

आचार्य उमास्वाति ने प्रशमरति प्रकरण में आकाश द्रव्य के दो भेद किया है : (1) लोकाकाश और अलोकाकाश । जितने आकाश में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल

ये पाँचो द्रव्य पाये जायें, उसे लोकाकाश कहते हैं। लोक के बाहर के आकाश को अलोकाकाश कहते हैं [125]।

लोकाकाश के भेद :

इसके तीन भेद हैं [126]:- (1) अधोलोक (2) तिर्यग्लोक (मध्यलोक) और (3) उर्ध्वलोक। अधोलोक, मध्यलोक एवं उर्ध्वलोक के क्रमशः सात, अनेक, पन्द्रह भेद हैं [127]।

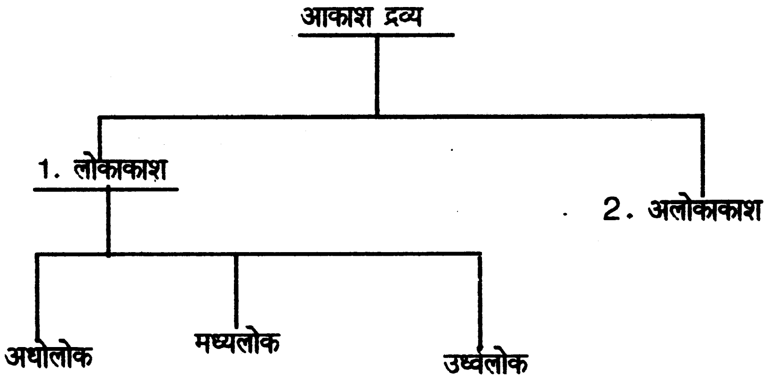

इस प्रकार आकाश द्रव्य का विभाग जीवादि द्रव्यों के रहने तथा न रहने के कारण हुआ है । जबकि यह आकाश एक अखण्डस्वरूप अचेतन द्रव्य है ।

काल द्रव्य :

प्रशमरति प्रकरण में काल को एक स्वतंत्र द्रव्य माना गया है, क्योंकि जीव और पुद्गल के संयोग से उत्पन्न होनेवाली पर्यायों के परिवर्तन का निमित्त कारण कालद्रव्य है। द्रव्य में उत्पाद-व्यय काल सापेक्ष है। काल द्रव्य न स्वयं परिणमित होता है और न अन्य द्रव्य को अन्य रुप से परिणमता है, किन्तु स्वतः नाना प्रकार के परिणामों को प्राप्त होने वाले द्रव्यों के परिवर्तन में निमित कारण है। काल द्रव्य अस्तित्वान् होने पर भी एक प्रदेशी होने के कारण कायवाला नही कहलाता। अतः काल द्रव्य को अस्तिकाय नहीं माना गया है[128]।

काल द्रव्य में रुपादि गुणों का अभाव है, इसलिए यह अमूर्तिक है [129]। कालाणु एक-एक लोकाकाश के प्रदेशों पर रत्नों की राशि के समान एक-एक स्थित है, ये ध्रुव तथा भिन्न-भिन्न स्वरुप वाले हैं। अतः उनका क्षेत्र एक-एक प्रदेश है। इस प्रकार अन्योन्य प्रदेश से रहित काल के भिन्न-भिन्न अणु संचय के अभाव में पृथक-पृथक होकर लोकाकाश में स्थित है। यह अतीत-अनागत के भेद से अनन्त समयवाला है [130]। यह निष्क्रिय एवं अकर्ता[131] है। इसका व्यवहार मनुष्य लोक में ही होता है [132]। इसके पारिणामिक भाव होते हैं [133]।

काल द्रव्य के परिणाम, वर्तना, परत्व और अपरत्व गुण-उपकार है [134]।

काल द्रव्य की विशेषताएँ :

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर काल द्रव्य की निम्नांकित विशेषताएँ है: काल एक स्वतंत्र द्रव्य है। काल का अस्तित्व है। काल कायवान् नहीं है। काल नित्य है: काल अमूर्तिक है। काल द्रव्य परिणमन का सहायक कारण है। काल का लक्षण वर्तना है। काल निष्क्रिय है। काल का भाव पारिणामिक है। काल अकर्त्ता है।

काल के भेद :

काल के दो भेद हैं : (1) व्यवहार काल (2) निश्चय काल। जीव और पुद्गलों के परिणाम से उत्पन्न होने वाला व्यवहार काल है तथा जो अमूर्त एवम् वर्तना लक्षण से युक्त है, वह निश्चय काल है[135]।

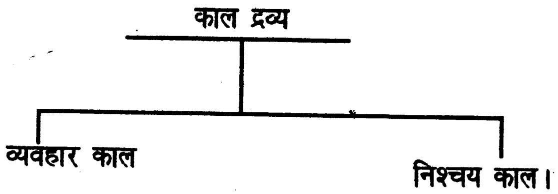

उक्त विश्लेषण के आधार पर यह निर्विवादतः सिद्ध है कि द्रव्य सत् स्वरुप में स्थित होने के कारण नित्य एंव अविनाशी है। इसीलिए दार्शनिक जगत् में द्रव्य स्वरुप भेद विमर्श एक महत्वपूर्ण विषय है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि दार्शनिक जगत में द्रव्यानुयोग संबन्धी तत्व- द्रव्य का विवेचन एक महत्वपूर्ण विषय है। द्रव्यानुयोग विषयक ग्रन्थों में प्रशमरति प्रकरण का प्रमुख स्थान है। इसमें एकार्थवाची तत्व एवं द्रव्य का सम्यक् निरुपण किया गया है, जो अत्यंत ठोस एवं वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित है। साथ ही इसके ग्रन्थकार आचार्य उमास्वाति ने अंत में इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि शुद्ध तत्व एवं शुद्ध द्रव्य को अपना कर ही मोक्ष पाया जा सकता है, जो भारतीय दार्शनिकों का चरम लक्ष्य रहा है।

•

सन्दर्भ सूची

1. पं० राजमल : पंचाध्यायी, पृ० 143
2. प्रशमरति प्रकरण, का० 222 की हरिभद्रीय टीका, पृ० 156
3. प्रशमरति प्रकरण, 11, का० 189, पृ० 130
4. देखें वही, 11, का० 189 की हरिभद्रीय टीका, पृ० 131
5. वही
6. वही
7. वही, 11, का० 194, पृ० 134
8. प्रशमरति प्रकरण, ११, का० १९४ एवं उनकी हरिभद्रीय टीका, पृ० १३४
9. वही, ११, का० १९५ एवं उनकी हरिभद्रीय टीका, पृ० १३५
10. वही, 11, का० 194 एवं उनकी हरिभद्रीय टीका पृ० 134
11. वही, 11, का० 195 एवं उनकी हरिभद्रीय टीका पृ०
12. वही 11, का० 197 की हरिभद्रीय टीका, पृ० 135।
13. प्रशमरति प्रकरण, 11, का० 197 की हरिभद्रीय टीका, पृ० 135
14. वही 1
15. वही 1
16. वही 1
17. वही 1
18. वही 1
19. वही पृ० 136
20. वही
21. प्रशमरति प्रकरण, 11, का० 196 एवं हरिभद्रीय टीका, पृ० 136

22. वही
23. प्रशमरति प्रकरण 11, का० 190, पृ० 132
24. प्रशमरति प्रकरण 11, का० 190 का हरिभद्रीय टीका पृ० 132
25. वही
26. वही 11, का० 192 की हरिभद्रीय टीका, पृ० 133
27. वही 1
28. वही, का० 190 की हरिभद्रीय टीका, पृ० 132
29. वही
30. वही
31. प्रशमरति प्रकरण, 11, १९० की हरिभद्रीय टीका, पृ० 132
32. वही
33. वर्तुगति प्रवृत्ता.............मनुष्या देवाः । प्रशमरति प्रकरण, ११ का० की हरिभद्रीयटीका, पृ० १३२
34. भवनयतयों ....किन्नरादयोडष्ट मैदाः। वही, पृ० 132
35. ज्योतिष्का पंच प्रकाराः सूर्योदयः। वही, पृ० 132
36. वैमानिकाः सार्धावास्यादय इति। वही, पृ० 132।
37. मनुष्या आर्य............ सर्मूच्छजाश्चेति। वही, पृ०132
38. तिर्यचोडप्येक...........पचैन्द्रिय भैदाः। वही, पृ० 132
39. वही, पृ० 132
40. द्विविधश्चराचराख्या- वही, पृ० 132
41. चराजंगमस्तै जो....अचराः स्थावराः। वही, पृ० 132
42. स्त्रिविधाः स्त्री पुंनपुंसका ज्ञेयाः। वही, पृ० 132।
43. जीव भव्याभव्यत्वादि रुप। प्रशमरति प्रकरण, अवचूरि सू० 196, पृ० 223।
44. अवगाहतोङ प्य................बहु प्रकारः। प्रशमरति प्रकरण, 11, का० 193 की हरिभद्रीय टीका, पृ० 133
45. स्थिति तस्तावदनन्त पर्यायः........... स्थिति पर्यायाः। वही, पृ० 133
46. तथा ज्ञानतोडव्यनन्त......... दंसण पज्जवा। वही, पृ०132

47. प्रशमरति प्रकरण, 11 का० 207, पृ० 145

48. पुद्गल कर्म शुभयत्तत्पुण्यामिति। प्रशमरति प्रकरण, 14, का० 219, पृ० 154

49. द्विचत्वारिंश ....पुण्याभिधानाः। वही, पृ० 154

50. पदशुभमथ तत्पापमिति भवति सर्वज्ञ निर्दिष्टम्। वही, पृ० 154

51. प्रशमरति प्रकरण, 14, का० 219 की हरिभद्रीय टीका, पृ० 154

52. आस्त्रव काय वाग्मनांसि । वही, का० 248 की टीका, पृ० 172

53. योगः शुद्ध पुण्यास्त्रव .... पापस्यास्त्रव इति। वही, 14, का० 220, की हरिभद्रीय टीका, पृ० 154

54. मिथ्यादर्शनादयः...... भैदैनोपादानाम्। प्रशमरति प्रकरण, 8, का० 157 एवं उनकी हरिभद्रीय टीका, पृ० 108

55. प्रशमरति प्रकरण, 2, का० 33, पृ० 25

56. वही, 14, का, 220, पृ० 154

57. वही, 8, का, 158, पृ० 109

58. संवृत तप उपधानं तु निर्जरा। वही, 14, का० 221, पृ० 155

59. प्रशमरति प्रकरण, 8, का० 159 की हरिभद्रीय टीका, पृ० 109

60. वही, 5, का० 59 की हरिभद्रीय टीका, पृ० 42

61. वही, 9, का० 175, पृ० 120

62. वही, 1, का० 176, पृ० 121

63. सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो .... स बन बन्धः। प्रशमरति प्रकरण, 5, का० 54 की टीका, पृ० 39

64. वही, 4, का० 36, पृ० 28

65. वही, 2, का० 31 और उनकी टीका, पृ० 24-25

66. प्रशमरति प्रकरण, 21, का० 221 , हरिभद्रीय टीका, पृ० 155

67. वही, 21, का० 291-293, पृ० 201-202

68. वही, 21, का० 295, पृ० 204

69. वही, 21, का० 294, पृ० 203

70. प्रशमरति प्रकरण, 14, का० 210, पृ० 147

71. वही
72. वही, 11, का० 204, पृ० 141
73. वही, 11, का० 202 की हरिभद्रीय टीका, पृ० 139
74. वही, 11, का० 204, पृ० 141
75. प्रशमरति प्रकरण, ११, का० 206 की हरिभद्रीय टीका, पृ० 144
76. वही, 11, का० 204, पृ० 141
77. प्रशमरति प्रकरण, 11, का० 205 का भावार्थ, पृ० 144
78. वही, 11, का० 206, पृ० 144
79. प्रशमरति प्रकरण, 11, को० 206 की हरिभद्रीय टीका, पृ० 144
80. प्रशमरति प्रकरण, 11, का० 200, पृ० 138
81. प्रशमरति प्रकरण, ११, का० २०७, पृ० १४५
82. धर्माधर्माकाशान्येकेकमतः परं त्रिकमनन्तम्। प्रशमरति प्रकरण, 14, का० 214, पृ० 150
83. कालं विनास्तिकाया। प्रशमरति प्रकरण, 14, का० 214, पृ० 150
84. प्रशमरति प्रकरण, 14, का० 213, पृ० 149
85. जीवमृते चाऽण्यकतृणि 11 प्रशमरति प्रकरण, 14, का० 214, पृ० 150
86. जीवा इति संभवन्तः............ जीविष्यन्ति चेति जीवाः। प्रशमरति प्रकरण, 10, का० 189 की हरिभद्रीय टीका, पृ० 131
87. प्रशमरति प्रकरण, 11, का० 194, पृ० 134
88. वही, 14, का० 214, पृ० 150
89. वही, 11, का० 207, पृ० 145
90. असंख्ये अकद्ध अप्रदेशे जीवः। वही, का० 207 की टीका, पृ० 145
91. प्रशमरति प्रकरण, 14, का० 213, पृ० 149
92. जीवस्तु कर्ता शुभाशुभानां कर्मणामिति। वही, 14, का० 214 की हरिभद्रीय टीका, पृ० 150
93. जीव मुक्ताः संसारिणश्च । वही, 11, का० 190, पृ० 132
94. वही, 11, का० 190, पृ० 132
95. प्रशमरति प्रकरण, 11, का० 192, पृ० 133
96. भावा भवन्ति.......... क्षयोपशमजश्य पंचैते। वही, 11, का० 193, पृ० 133

97. एवमनैक विधानामेंकैको ....दर्शनादिपर्यायै वही० का० १६३, पृ० १३३

98. समयक्त्व ज्ञान चारित्र वीर्य शिक्षा गुणा जीवाः। प्रशमरति प्रकरण, 14, का० 218, पृ० 153

99. प्रशमरति प्रकरण, 11, का० 207, पृ० 145

100. तु रुपिणः पुद्गला प्रोक्ताः। - प्रशनरति प्रकरण 11, का० 207, पृ० 145

101. वही, 14, का० 214, पृ० 150

102. द्वयादि प्रदेशवन्तो .... वर्णादिगुणेषु भजनीयः। वही, 11, का० 208, पृ० 145

103. स्पर्श रस गन्ध.......... संसारिणः स्कन्धाः। प्रशमरति प्रकरण, 14, का० 216-217, पृ० 152

104. पुद्गल द्रव्य पुनरोदयिके भावे भवति पारिणामिके च। वही, 11, का 209, पृ० 146

105. कर्तृत्व पर्याय शून्यानि। वही, 14, का० 214, पृ० 150

106. वही, 11, का० 208, पृ० 145

107. द्वयादि प्रदेश भाजः........ कार्यलिंगश्च। प्रशमरति प्रकरण, 11, का० 208 को हरिभद्रीय टीका, पृ० 145

108. डॉ० लालचन्द्र जैनः पंचास्तिकाय एक सरल अध्ययन, पृ० 42

109. द्वयादि प्रदेशवंतो....... स्कंधाः। प्रशमरति प्रकरण, 11, का० 208, पृ० 145

110. एक द्वयणुक........ सर्वे स्कन्धाः। वही, 11, का, 208 की हरिभद्रीय टीका, पृ० 145

111. वही, पृ० 145

112. धर्मद्रव्यं .... जलद्रव्यमिवोपग्राहकम। प्रशमरति प्रकरण, 14, का० 215 की हरिभद्रीय टीका, पृ० 151

113. वही, 11, का० 207, पृ० 145

114. असंख्येय प्रदेशों जीवः तथा धर्माधमादीपि। वही, 14, का० 214 की हरिभद्रीय टीका, पृ० 150

115. धर्मादीनि कर्तृत्व पर्याय शून्यानि। वही, पृ० 150

116. स्थित्युपकृत्याधर्मः। प्रशमरति प्रकरण, 14, का० 215, पृ० 151

117. वही, 14, का० 213, पृ० 149

118. वही, 14, का० 214, की टीका, पृ० 150

119. आकाशान्येकैकमतः। प्रशमरति प्रकरण, 14, का० 214 की टीका, पृ० 150

120. वही, 14, का० 207, पृ० 145

121. वही, 14, का० 209, पृ० 146

122. वही, 14, का० 214 को टीका, पृ० 150

123. अवकाशदानोप कुद्ग गनम्। वही, 14, का० 215, पृ० 151

124. यथा वा व्योम द्रव्यं स्वमेय .... शब्दः प्रसाद यति। प्रशमरति प्रकरण, 14, का 215 की हरिभद्रीय टीका, पृ० 151

125. जीव जीवाधार.......... एमेवाकाशमे। वही, 14, का० 213 की टीका, पृ० 149

126. प्रशमरति प्रकरण, 14, का० 211, पृ० 148

127. वही, 14, का० 212, पृ० 148

128. कालं विनास्तिकाया –वही, 14, का० 214, पृ० 150

129. प्रशमरति प्रकरण, 11, का० 207, पृ० 145

130. कालद्रव्यमण्यनन्त समयमतीता नानतादि भेदेनेति। वही, का० 14, का० 214 की टीका, पृ० 150

131. वही, पृ० 150

132. मर्त्यलोकिकः कालः । वही, 14, का० 213, पृ० 148

133. वही, 14, का, 209, पृ० 146

134. परिणाम वर्तना विधिः परापरत्व गुण लक्षणः कालः वही, 14, का० 218, पृ० 123

135. प्रशमरति प्रकरण, 14, का० 218 की टीका, पृ० 153

तृतीय अध्याय

आचार–मीमांसा

सम्पूर्ण जैन वांङ्मय में चरणानुयोग का विशेष महत्व है, क्योंकि इनमें आचाार के नियमों का विशद विवेचन उपलब्ध है।

उपासकाध्ययन, श्रावक धर्म, श्रावकाचार, पुरुषार्थसिद्धयुपाय, वसुनन्दी श्रावकाचार, सागारधर्मामृत, मूलाचार, भगवती आराधना, आचारांगसूत्र, आराधनासार, शुभाषित रत्न संदोह, मुनिप्रायश्चितचरित्रसार, चरणसार, आराधना संग्रह, अनगार धर्मामृत, प्रवचनसार, आदि ग्रन्थ चरणानुयोग मूलक है जिनमें मुनि और श्रावक दोनों के आचार संबंधी नियमों पर प्रकाश डाला गया है।

मूलाचार आचारांग सूत्र, अनगार धर्मामृत, चरणसार, आराधनासार एवं प्रवचनसार आदि चरणानुयोग विषयक ग्रन्थों में मुनियों के पंचमहाव्रत - पंच समिति पालन, पंचेन्द्रिय निग्रह, केशलोच करना, षडावश्यक पालन, वस्त्रत्याग, भूशयन, अदन्तधावन, खड़े-खड़े भोजन करना एवं एक बार भोजन करना आदि अट्ठाईस मूल गुणों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है और बताया गया है कि इन मूल गुणों के पालन करने से निर्विकल्प सामायिक चारित्र की प्राप्ति होती है जिनसे मुनिपद की सिद्धि होती है।

प्रशमरति प्रकरण भी चरणानुयोग मूलक ग्रन्थ है जिसमें आचार संबंधी नियमों का विस्तृत कथन किया गया है। इस ग्रन्थ के कर्त्ता आचार्य उमास्वाति ने आचार को दो भागो में वर्गीकृत किया है- (1) मुनि आचार (2) श्रावक आचार। इनमें मुनि आचार को सर्वोत्कृष्ट माना गया है, क्योंकि मूल गुण धारक मुनियों को ही मोक्ष की प्राप्ति संभव है। अतः मुनिआचार उपादेय है।

मुनि स्वरुप :

प्रशमरति प्रकरण में मुनि स्वरुप का कथन करते हुए बतलाया गया है कि जो पंचमहाव्रत आदि 26 (अट्ठाईस) मूल गुणों का सम्यक् पालन कर निर्विकल्प सामायिक

चारित्र को प्राप्त करता है, वह मुनि कहलाता है। वास्तव में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के आराधक मुनि को ही मुनिपद की प्राप्ति होती है [1]।

प्रशमरति प्रकरण में मुनियों के पालन करने योग्य आचार संबंधी नियमों का उल्लेख किया गया है जो संक्षेप में निम्नांकित हैं : भावना, धर्म, व्रत आदि।

भावना (अनुप्रेक्षा) :

सर्वप्रथम मुनि भावना का सम्यक चिन्तन करते हैं। यहाँ भावना और अनुप्रेक्षा दोनों एकार्थवाची शब्द है। प्रशमरति प्रकरण में भावना की परिभाषा देते हुए बतलाया गया है कि आगम के अर्थ के मन में चिन्तन करना भावना या अनुप्रेक्षा है [2]।

भावना के बारह प्रकार बतलाये गये हैं[3] - अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, कर्मों की आस्रव-विधि, संवर-विधि, निर्जरा, लोक विस्तार, धर्मस्वाख्याततत्व, बोधि दुर्लभ। इनके विस्तारपूर्वक कथन क्रमशः इस प्रकार हैं :-

अनित्यत्व :

अनित्यत्व के स्वरुप की चर्चा करते हुए बतलाया गया है कि संसार की सभी वस्तुएँ अनित्य हैं, कुछ भी नित्य नही है, इस प्रकार के चिन्तन करने को अनित्य भावना कहते हैं[4]। इष्ट जन का संयोग, रिद्धि, विषय-सुख, सम्पदा, आरोग्य शरीर, यौवन और जीवन - ये सभी अनित्य हैं [5]। इस प्रकार इन सबकी अनित्यता का विचार करते रहने से राग उत्पन्न नहीं होता और राग रहित प्राणि ही मोक्ष की चिन्ता में लगा रह सकता है। इसलिए मुनियों के लिए अनित्यत्व भावना का पालन करना आवश्यक है [6]।

अशरणत्व :

जन्म, जरा और मृत्यु से घिरे हुए प्राणि के लिए कहीं भी शरण नहीं है, ऐसा चिन्तन करने को अशरणत्व भावना कहते है [7]। केवल जिनेन्द्र देव के वचनों के सिवाय अन्य कुछ भी शरण नहीं है ऐसा मानकर आचरण करना अशरणत्व भावना का पालन करना है [8]।

एकत्व भावना :

मै अकेला हूँ इत्यादि विचारने को एकत्व भावना कहते हैं [9]। संसार- समुद्र में जीव जहाँ जहाँ जन्म लेता है या मरता है, वह भव-आवर्त्त कहा जाता है। उस भव रुपी आवर्त्त में जीव अकेला ही जन्म लेता है और अकेला ही मरता है। जन्म लेते या मरते समय उसका कोई भी सहायी नहीं होता है। मरणोपरांत नरकादि गतियों में अपने किये हुए शुभ-अशुभ कर्मो के फल को वह स्वयं ही भोगता है। जीव का हित उसके द्वारा प्राप्त होनेवाला मोक्ष ही है, क्योंकि इसका कभी भी विनाश नहीं होता। अतः जब यह जीव अकेला ही कष्ट भोगता है तो उसे अकेले ही अपना हित साधना कर मोक्ष प्राप्त करना श्रेयष्कर है [10]।

अन्यत्व-भावना :

मैं अपने कुटुम्बियों, धन-धान्य, सोना, चाँदी आदि तथा शरीरादि से भिन्न हूँ, ऐसा विचारने को अन्यत्व भावना कहते है [11]। अर्थात् जिसकी बुद्धि में रात-दिन यही विचार बना रहता है कि मैं माता, पिता, पत्नी, पुत्र आदि कुटुम्बियों, दास-दासी आदि परिजनों, धन-धान्य, सोना, चाँदी, वस्त्र आदि वैभव एवं भोग-उपभोग के आश्रय से भी भिन्न हूँ, जिसे शोक रुपी कलिकाल कष्ट नहीं देता। अतः अन्यत्व भावना मोक्ष के लिए अत्यावश्यक है[12]।

अशुचित्व भावना :

रज-वीर्य एवं मज्जादि से बना हुआ शरीर अपवित्रता का घर है, ऐसा चिन्तन करने को अशुचित्व भावना कहते हैं [13]। इस शरीर में पवित्र पदार्थों को भी अपवित्र कर देने की शक्ति हैं। जैसे कपूर, चन्दन, अगुरु, कैसर आदि सुगन्धित द्रव्य शरीर में लगाने से दुर्गन्धित हो जाते हैं। शरीर का आदि कारण रज और वीर्य है, क्योंकि प्रारम्भ में इन्हीं के मिलने से शरीर बनना शुरु हुआ है। फिर बाद में माता जो भोजन करती है, उस भोजन का रस हरेणी में आती है जिससे शरीर बनता है। वह शरीर चर्म से आवरित है। इसके अन्दर खून, माँस, चर्बी, और हड्डियाँ भरी हुई हैं जो नसों के जाले से वेष्टित हैं। इसमें कहीं भी शुचिपना नहीं है, इस प्रकार का विचार करने से अशुचिपना बढ़ता ही जाता है [14]।

संसार-भावना :

संसार में जीव माता होकर दूसरे भव में बहिन या पत्नी भी हो जाता है, तथा पुत्र होकर पिता, माता और शत्रु तक हो जाता है, इस प्रकार के संसार स्वरुप के चिन्तन को संसार-भावना कहते है [15]। कहने का आशय यह हुआ कि जीव अपने कर्मों के कारण भव परिणमन करता हुआ माता, पिता, भाई होकर भी शत्रु हो जाता है। इस प्रकार के भाव को जानकर एक से राग और दूसरे से द्वेष करना व्यर्थ है [16]।

आस्रव-भावना :

आस्रव के द्वारों के खुले रहने पर कर्मों का आगमन होता रहता है, जिन्हें बंद संबंधी विचारना को कर्मास्रव भावना कहते हैं। जो प्राणि मिथ्या दृष्टि, अविरति, प्रमाद, कषाय एवं योग में अभिरुचि रखता है, उस जीव को कर्मों का आस्रव होता हैं, क्योंकि मिथ्यादर्शनादि कर्माश्रव के प्रमुख कारण हैं। अतः मुनि को आस्रव के कारण को जानकर उसे रोकने का विचार करना चाहिए [17]।

संवर-भावना :

आश्रव के द्वारों के बन्द हो जाने पर कर्मों का आश्रव रुक जाता है, ऐसा विचारने को संवर-भावना कहते हैं। मन, वचन, और काय के जिस व्यापार से पुण्य कर्म का आस्रव नहीं

होता है, आत्मा में अच्छी तरह धारण किये गये उस व्यापार को संवर कहते है, जिसे तीर्थकारों ने जीव के लिए परमहितकारी माना है। इस प्रकार का चिन्तन करना संवर-भावना है [18]।

निर्जरा-भावना :

आश्रव के द्वारों के बन्द हो जाने पर तप के द्वारा पूर्व बंधे हुए कर्मों का क्षय होता है, ऐसा चिन्तन करने को निर्जरा-भावना कहते है [19]। जैसे बढ़ा हुआ विकार भी प्रयत्न करने एंव लंघन से नष्ट हो जाता है, वैसे ही संसार से युक्त मनुष्य इकठ्ठे हुए कर्म को तपस्या से क्षीण कर डालता है। जिस प्रकार बढ़ा हुआ भी अजीर्ण खाना बन्द करके लंघन करने से प्रतिदिन क्षय होता है, इसी प्रकार संसार में भ्रमण करते हुए ज्ञानावरणादि कर्म से बंधा हुआ जीव चतुर्थ, अष्टम, द्वादश आदि तपो के द्वारा वे नीरस हो जाते हैं। और बिना फल दिये वे कर्म मसले गये कुसुम के फूल की तरह आत्मा से झड़ जाते हैं [20]।

लोक-भावना :

यह जीव अनादिकाल से ऊर्ध्वलोक, अधोलोक, एवं मध्यलोक में भ्रमण करता है, इत्यादि लोक के स्वरुप के विचारने को लोक विस्तार-भावना कहते हैं। अर्थात् समस्त लोक में मैं जन्मा और मरा हूँ तथा सभी रुपी द्रव्यों का मैने उपभोग किया है, फिर भी मेरी तृप्ति नहीं हुई है, इस प्रकार प्रतिसमय विचार करना हितकारी है [21]।

स्वाख्यात धर्म-भावना :

भव्य जीवों के कल्याण के लिए उत्तम क्षमादि दस लक्षण रुप धर्म अच्छा कहा गया है, ऐसा चिन्तन करना धर्मस्वाख्यात-भावना है [22]।अर्शात् कर्मरुपी शत्रुओं के जैसा तीर्थंकरों द्वारसंसार कल्याण के लिए इस आगमत्य और उत्तम क्षमादि लक्षण युक्त-धर्म का निर्दोष कथन किया गया है, इसमें जो अनुरक्त होते हैं, वे संसार रुपी समुद्र को आनायास ही पार कर जाते हैं। धर्म के मार्ग पर चलने से ही मनुष्य आत्म-कल्याण कर सकता है। जब तक धर्म के पथ पर नहीं चलता, उसका अनादि संसार-परिभ्रमण के चक्र से छुटकारा नहीं हो सकता । अतः आत्म-कल्याण के लिए धर्म का चिन्तन करना उपादेय है [23]।

दुर्लभबोधि-भावना :

मनुष्य जन्म, कर्मभूमि, आर्यदेश, कुल, नीरोगता और आयु पाने पर भी सम्यग्ज्ञान का पाना दुर्लभ है, ऐसा विचारने को बोधि दुर्लभ भावना कहते हैं[24]।यदि सैकड़ों भवों में किसी तरह सम्यग्ज्ञान का लाभ प्राप्त हो जाय तो भी देश चारित्र एवं सकल चारित्र पाना अत्यंत कठिन है [25]। इस प्रकार यदि सकल चारित्र रुप रत्न प्राप्त भी हो जाय फिर भी इन्द्रिय, कषाय, परीषह रुपी शत्रुओं से व्याकुल मनुष्य के लिए वैराग्य-मार्ग को जीतना अत्यन्त दुर्लभ

है। अतः वैराग्य-मार्ग सकल-चारित्र की अपेक्षा दुष्कर है [26]।

उक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि वैराग्य-मार्ग में कषाय बाधक है जिस पर विजय पाने के लिए क्षमादि दस धर्मों का सम्यक् पालन करना आवश्यक है [27]।

धर्म स्वरुप एवम् उसके प्रकार :

प्रशमरति प्रकरण में धर्म स्वरुप एवम् उसके भेद पर विस्तारपूर्वक उल्लेख किया गया है और बतलाया गया है कि धर्म-मार्ग पर चलने वाला मनुष्य वैराग्य-मार्गी हो सकता है। जबतक वह धर्म के पथ पर नहीं चलता है, तबतक वह अनादि संसार-परिभ्रमण के चक्र से छुटकारा नहीं पा सकता है।

ग्रन्थकार ने धर्म के दो रुप बतलाये हैं - (1) आगम रुप (2) उत्तम क्षमादि दस लक्षण रुप। आगम रुप धर्म से मनुष्य स्व-पर का बोष करता है और अपनी अविराम साधना से मुक्ति लाभ करता है। उत्तम क्षमादि रुप धर्म से प्राणी इसी प्रकार संसार-सागर को पारकर मुक्ति प्राप्त करता है [28]।

प्रशमरति प्रकरण में धर्म के दस प्रकार बतलाये गये हैं जो क्रमशः निम्नवत् हैं[29]। क्षमा, मार्दव, आर्जव, शीव, संयम, त्याग, सत्य, तप, ब्रह्मचर्य और आकिन्चन्य ।

क्षमा धर्म :

क्षमा धर्म उत्तम धर्म है। गालीगलोज और मार आदि को समभावपूर्वक सहना क्षमा है। अर्थात् क्रोधोत्पत्ति के निमित्त मिलने पर भी हृदय में क्रोध का उत्पन्न नहीं होना क्षमा धर्म है [30]।

धर्म का मूल दया है, क्योंकि दया अहिंसा स्वरुप है और धर्म का लक्षण अहिंसा ही है। अतः धर्म का मूल दया है। परन्तु जो क्षमाशील नहीं है, वह प्राणियों पर दया नहीं कर सकता है क्योंकि क्रोधी मनुष्य को चेतन-अचेतन अथवा इस लोक-परलोक का कोई ध्यान नहीं रहता है। इस प्रकार जो क्षमा धर्म के पालन करने में सदा तत्पर है, वही दस लक्षण धर्म का पालन कर सकता है। अतः दस धर्मों में क्षमाधर्म सर्वोत्तम है [31]।

मार्दव धर्म :

मद के कारणभूत मान कषाय को जीतना मार्दव धर्म है [32]। मद के आठ प्रकार बतलाये गये हैं[33] - जाति, कुल, रुप, बल, लाभ, बुद्धि, प्रिये एवं श्रुत, जिनका विस्तार पूर्वक कथन प्रशनरति प्रकरण में निम्नवत् किया गया है:

(क) जाति मद :

ब्राह्मणादि जाति में जन्म लेने का मद करना, जाति मद है। जैसे जीव अपने जाति मद के कारण नारकी होकर तिञ्च - मनुष्यादि योनियों में चक्कर काटता रहता है। अतः जाति मद हेय है, क्योंकि यह स्थायी नहीं होता है [34]।

(ख) कुलमद :

उत्तम कुल में जन्म लेने का मद करना, कुल मद है। इससे मनुष्य का शील दूषित होता है और दुःशील मनुष्य का गर्व दुःशीलता को बढ़ाता है। अतः यह शीलवान् के लिए त्याज्य है [35]।

(ग) रुपमद :

रुप-सौन्दर्य का मद करना, रुप मद है। यह रुप और वीर्य से उत्पन्न होता है और सदैव बढ़ता रहता है। यह रोग और जरा का घर है। यह नित्य ही संस्कार करने योग्य है। यह धर्म और मांस से ढ़का हुआ, मल से युक्त तथा नियम से नश्वर है। इसलिए यह त्याज्य है[36]।

बल का मद :

बल का गर्व करना बल-मद है। वास्तव में बल स्थायी चीज नहीं हैं, क्योंकि बलवान् मनुष्य भी क्षणभर में बलहीन और निर्बल मनुष्य भी वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से बलवान् हो जाते हैं। परन्तु, मांस के सामने आने पर सब बल बेकार हो जाता है। अतः बल का मद करना अनिष्टकर है [37]।

लाभमद :

लाभ का गर्व करना लाभमद है। लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से लाभ होता है और लाभान्तराय कर्म के उदय से कुछ भी लाभ नहीं होता । अतः लाभ और अलाभ अनित्य है। यदि साधु को आहारादि का लाभ या अलाभ हुआ, इन दोनों स्थिति में समभाव रखना हितकर है। इसलिए लाभमद हेय है [38]।

बुद्धि का मद :

बुद्धि का मद करना बुद्धि-मद है। यहाँ बुद्धि का अर्थ ज्ञान है। ज्ञान असीम, अनन्तसागर के समान है। इसलिए इसका पार पाना बहुत कठिन है। अतः ज्ञान का मद बेकार है [39]।

प्रिय-मद :

प्रिय होने का गर्व करना प्रिय-मद है। उपकार के निमित्त दीन मनुष्यों के समान दूसरे

लोगों की चापलूसी करके जो उनका प्रेम प्राप्त किया जाता है, वह मिथ्या, क्षणिक एवं अत्यंत कष्टप्रद होता है, क्योंकि क्षण भर में राग रंजिस में बदल जाता है। अतः यह भी हेय है [40]।

श्रुत-मद :

श्रुत ज्ञान प्राप्ति का गर्व करना, श्रुत-मद है। इसका पालन करने वाला मनुष्य अज्ञानी होता है, जैसे श्रुतमद पालन करने वाला मुनि स्थूलभद्र। स्थूलभद्र के श्रुत मद के कारण श्रुत-सम्प्रदाय का विच्छेद हो गया। अतः श्रुतमद हानिकारक है [41]। इस प्रकार आठ मद के कारणभूत मान कषाय पर विजय प्राप्त करना मार्दव धर्म है। इस धर्म का पालन करने वाला मुनि सर्वगुण सम्पन्न हो जाता है। अतः मुनि के लिए मान विजयी मार्दव-धर्म आचरणीय है[42]।

आर्जव धर्म :

आर्जव का अर्थ सरलता है। मन, वचन और काय इन तीनों योगों की सरलता का होना आर्जव धर्म है। माया कषाय का अभाव होने पर ही इसकी प्राप्ति होती है [43]।

आर्जव धर्म के बिना शुद्धि नहीं होती। अशुद्ध आत्मा धर्म की आराधना नहीं कर सकता है। धर्म के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती तथा मोक्ष प्राप्त किये बिना अविनश्वर सुख की प्राप्ति संभव नहीं है और मोक्ष से बढ़कर दूसरा कोई सुख नहीं है। अतः साधु को आलोचना आदि करते समय सदैव आर्जव धर्म पालना करना अनिवार्य है [44]।

शौच-धर्म :

यह भी एक महत्वपूर्ण धर्म है। प्रशमरति प्रकरण में पवित्रता को शौच कहा गया है[45]। शौच धर्म के दो प्रकार हैं[46] - द्रव्य शौच और भाव शौच।

द्रव्य शौच धर्म :

द्रव्य शौच बाह्य शौच है। यहाँ शौच का अर्थ शुद्धि है। जो द्रव्य उपकरण खान-पान और शरीर को लेकर शुद्धि किया जाता है, वह द्रव्य शौच धर्म है।[47] ज्ञानादि में जो सहायक हो, उसे उपकरण कहते हैं। जो उपकरण उद्गम आदि दोषों से शुद्ध होता है, वह पवित्र होता है और जो वैसा नहीं होता है, वह अपवित्र है। इसी तरह मल-मूत्र का त्याग करने के बाद लेप और ग्रन्थ से रहित देह पवित्र होता है। ये सब शुद्धि द्रव्य शौच है।[48]

भाव शौच धर्म :

निर्लोभता को भाव-शौच कहा गया है। जिसकी आत्मा लोभ कषाय से रंजित है, उसकी शुद्धि होना कठिन है। इस प्रकार लोभ का त्याग ही यथार्थ में भाव शौच है।[49]

संयम धर्म :

संयम धर्म उत्तम धर्म है। आस्रव के कारणभूत हिंसा आदि पापों से विरत होना अथवा पृथ्वीकाय आदि में संयम करना संयम धर्म है।[50] आगमानुसार संयम धर्म के दो भेद हैं [51] (१) प्राणि संयम और (2) इन्द्रिय संयम। छह काय के जीवों का घात नहीं करना प्राणि संयम और पाँच इन्द्रिय एवं मन से विरक्त होना इन्द्रिय संयम है। यह संयम समितियों का पालन करनेवाले मुनि को होता है।

प्रशमरति प्रकरण में ही संयम के सत्रह भेद बतलाये गये हैं[52]- हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह, विरमण, स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत-पंचेन्द्रिय दमन, क्रोध -मान-माया-लोभ चार कषायजय,मन, वचन-कायगुप्ति।

त्याग धर्म :

वध, बन्धन आदि को त्यागना अथवा साधुओं को प्रासुक भिक्षा देना त्याग है [53]। प्रशमरति प्रकरण में त्याग धर्म की परिभाषा देते हुए बतलाया गया है कि कुटुम्ब, धन, इन्द्रिय सुख, भय, कलह, शरीर, राग-द्वेष आदि परिग्रह के त्यागने को त्याग धर्म कहा गया है और जो साधु त्याग धर्म का पालन करता है, उसे निर्ग्रन्थ कहा गया है [54]।

सत्य धर्म :

यह भी एक उत्तम धर्म है। सत्य की परिभाषा देते हुए बतलाया गया है कि हितकर वचन बोलना सत्य धर्म है [55]।

सत्य धर्म के चार भेद हैं। जैसा देखना वैसा ही कहना, काय, मन और वचन की अकुटिलता-ये सब सत्य धर्म जिनेन्द्र के मत में ही कहा गया है, अन्य मतों में अकथित है[56]।

तप धर्म :

तप धर्म एक उत्तम धर्म है। तप का अर्थ तपाना है। प्रशमरति प्रकरण में तप की परिभाषा दी गयी है और बतलाया गया है कि कर्मों के क्षय करने के लिए जो तपा जाये, वह तप कहलाता है [57]।

तप के दो प्रकार हैं- (1) बाह्य और (2) आभ्यन्तर तप। अनशनादि छह तप दूसरों के द्वारा देखा जाता है, इसलिए इन्हें बाह्य तप कहा जाता है, तथा प्रायश्चित आदि तपों द्वारा जो स्वयं अनुभव किया जाता है,उसे आभ्यन्तर तप कहा जाता है [58]।

बाह्यकाल :

बाह्य तप के छह भेद किये गये हैं[59] - अनशन, उनोदरता, वृत्ति संक्षेप, रस त्याग, कायक्लेश और संलीनता।

अनशन :

एक उपवास से छह उपवास तक खान-पान का त्यागना अनशन है और भत्स प्रत्याख्यान, इंगिनीभरण तथा पादपोपगमन में जो जीवन पर्यंतखान-पान का त्याग किया जाता है, वह भी अ न तप है। इसमें मुनि एक दो तीन आदि ग्रास के क्रम से आहार को घटाते हुए एक ग्रास तक ले जाते है[60]।

उनोदर :

बत्तीस कौर से यथाशक्ति कम आहार करना, उनोदर बाह्य तप है[61]।

वृत्तिसंक्षेप :

वृत्ति का अर्थ आहार होता है। आहार से संबंधित नाना प्रकार के नियम जिसमें किये जाते हैं, उसे वृत्तिपरिसंख्यान नामक तप कहा जाता है। अर्थात् भिक्षा को परिमित करने के लिए घर आदि का परिमाण करना कि आज मैं इतने घरों से भिक्षा ग्रहण करुँगा, वृत्तिसंक्षेप बाह्य तप है [62]।

रसत्याग :

दूध, दही, घी, गुड़ आदि रसों के त्याग को रस त्याग कहते हैं [63]। अर्थात् तेल, दूध, अक्षुरस (गुड़-शक्कर आदि) दही और घी - इन पाँच प्रकार के रसों में एक दो तीन चार या पाँच रसों का त्याग करनेवाले मुनि को रस परित्याग नामक तप होता है।

काया क्लेश :

कायोत्सर्ग, उत्कटुकासन, आतापन आदि के द्वारा शरीर को क्लेश देने को कायक्लेश कहते हैं। अर्थात् अनेक प्रकार के प्रतिमायोग धारण करना नाना आसनों से ध्यानस्थ होना, मौन रहना, शीत की बाधा सहना तथा धूप में बैठना इत्यादि कायक्लेश तप माना गया है[64]।

संलीनता :

आगम का उपदेश करना संलीनता तप है[65]। इसके दो भेद हैं[66]- (१) इन्द्रिय संलीनता और नो इन्द्रिय संलीनता।

(१) इन्द्रिय संलीनता :

जिस प्रकार कछुआ अपने अंगों को संकोच लेता है, उसी प्रकार साधु राग-द्वेष के कारण शब्द आदि से अपनी इन्द्रियों को संकोच लेता है, इस प्रकार के इन्द्रिय-संकोच को इन्द्रिय संलीनता कहते हैं [67]।

(२) नो इन्द्रिय संलीनता :

आर्त्त-रौद्र ध्यान, और क्रोधादि को उत्पन्न न होने देना और यदि उत्पन्न हो जावे तो उसे विफल कर देना नो इन्द्रिय संलीनता है.[68]।

आभ्यान्तर तप :

तप का दूसरा भेद आभ्यान्तर तप है। यह बाह्य तप के विपरीत है। आभ्यान्तर तप का अर्थ है-भीतर का तप, जिसका केवल स्वयं अनुभव किया जाता है।

आभ्यान्तर तप के भी छह भेद किये गये हैं- प्रायश्चित, ध्यान, वैयावृत्य, विनय, उत्सर्ग एवं स्वाध्याय [69]।

प्रायश्चित :

जो अपने किये हुए दोषों को दूर करने के लिए आलोचना आदि की जाती है, उसे प्रायश्चित आभ्यन्तर तप कहते हैं [70]। इसके नव भेद है:[71] आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, तप, व्युत्सर्ग, विवेक, उपस्थापना, परिहार और छेद।

ध्यान :

किसी वस्तु में मन को एकाग्र करना, ध्यान आभ्यान्तर तप हैं [72]। ध्यान चार प्रकार के होते हैं। आर्त्तध्यान, रोद्रध्यान, धर्मध्यान, शुक्लध्यान।

आर्तध्यान :

ॠत दुःख अथवा संक्लेश को कहते हैं, उससे जो ध्यान होता है, वह आर्त्त ध्यान है[73]। इसके भी चार भेद हैं- (क) अप्रिय वस्तु का सम्बन्ध होने पर उसके वियोग के लिए चिन्ता करना (ख) सिर दर्द आदि की पीड़ा को दूर करने के लिए चिन्ता करना (ग) प्रिय वस्तु का वियोग होने पर उसके संयोग के लिए चिन्ता करना और (घ) चन्दन, खत आदि के लगाने से उत्पन्न हुए सुख का वियोग न होने के लिए चिन्ता करना [74]।

रौद्र ध्यान :

क्रूर अथवा निर्दय को रुद्र कहते हैं, उसका जो ध्यान होता है, वह रौद्र ध्यान है [75]। इसके भी चार भेद हैं- (क) हिंसा में आनन्द अनुभव करना (ख) झूठ बोलने में आनन्द अनुभव करना (ग) चोरी करने में आनन्द करना और (घ) परिग्रह-संचय में आनन्द अनुभव करना [76]।

धर्मध्यान :

धर्म युक्त ध्यान को धर्मध्यान कहते है। अर्थात् धर्म विषयक एकाग्र चिन्तन करना

धर्मध्यान तप है [77]। असके चार भेद हैं [78]। -(1) आज्ञा विचय (2) अपाय विचय (3) विपाक विचय (4) संस्थान विचय।

आज्ञा विचय :

आप्त के वचन के अर्थ का निरुपण करना आज्ञाविचय नामक धर्मध्यान है। अथवा प्रवचन के रुप में सर्वज्ञदेव ने जो आज्ञा दी है, उसकी गुण-शालिता और निर्दोषता का विचार करना आज्ञा विचय है। सारांश यह है कि द्वादशांग वाणी के अर्थ के अभ्यास करने को आज्ञा विचय धर्मध्यान कहते हैं [79]।

अपाय विचय :

आश्रव विकथा, गौरव, परीषह आदि में अनर्थ का चिन्तन करना अपाय विचय नामक धर्मध्यान है। मन-वचन-काय के व्यापार को आस्रव और स्त्री, भोजन, चोर और देश की बातें करना विकथा कहा गया है। ऐश्वर्य सुख-रस को गौरव एवं भूख-प्यास आदि की बाधा को परीषह कहा गया है। जो जीव उक्त ध्यान में पड़ता है, उसे नरक आदि गतियों में नाना प्रकार आस्रव आदि की बुराइयों का चिन्तन करना, उपाय विचय धर्मध्यान है [80]।

विपाक विचय :

शुभ और अशुभ कर्मों के रस का विचार करना, विपाक विचय धर्मध्यान है [81]। कर्म दो प्रकार के हैं- शुभ और अशुभ। दोनों प्रकार के कर्मों का विचार करना कि अशुभ कर्मों का फल यह होता है और शुभ कर्मों का यह फल होता है, इस प्रकार चिन्तन करनेवाले ध यान को विपाक विचय धर्मध्यान कहते हैं [82]।

संस्थान विचय :

क्षेत्र के आकार का चिन्तन करना, संस्थान विचय नामक धर्मध्यान है [83]। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल- छह द्रव्यों का क्षेत्र उर्ध्व मध्य एवं अधोलोक है, जिनके आकार का चिन्तन करना संस्थान विचय धर्मध्यान है [84]।

धर्म ध्यानों के पालन करने से मुनि के घाति कर्म के क्षय के एक देश से उत्पन्न होनेवाला, अनेक ऋद्धियों के वैभव से युक्त अपूर्वकरण नामक आठवाँ गुणस्थान प्राप्त होता है। फिर भी इन दुर्लभ ऋद्धियों में वे निर्मोही हैं। जबकि मुनियों को जो ऋद्धियाँ प्राप्त होती हैं, वे सब ऋद्धियों से उत्कृष्ट होती हैं। इस प्रकार कषायजयी मुनि लाखों भवों में दुलर्भ यथाख्यात चारित्र को तीर्थंकर की भांति प्राप्त करता है [85]।

शुक्ल ध्यान :

जो ध्यान शारीरिक और मानसिक दुःख का छेदन करता है, उसे शुक्ल ध्यान कहते

है[86]। अनन्त विशुद्ध परिणामी जीव को शुक्ल ध्यान होता है [87]।

इसके चार भेद हैं: (क) पृथक्त्व वितर्क विचार (ख) एकत्व वितर्क अविचार (ग) सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाति (घ) व्युपरत क्रियानिवृत्ति [88]।

पृथक्त्व विर्तक विचार :

शान्त मोह अर्थात् ग्यारहवें गुण स्थानवर्तीजीव, तीन योगों के द्वारा अनेक भेदों से युक्त द्रव्यों का जो ध्यान करता है, वह पृथक्त्व वितर्क विचार नामक शुक्ल ध्यान है । चूँकि वितर्क का अर्थ श्रुत है और चौदह पूर्वों में प्रतिपादित अर्थ को शिक्षा से युक्त मुनि इसका ध्यान करता है, इसलिए यह ध्यान सविर्तक कहलाता है । अर्थ, शब्द और योगों का संक्रमण-परिवर्तन विचार माना गया है । इस ध्यान में उक्त लक्षणवाला विचार रहता है । इसलिए यह ध्यान सविचार होता है[89]।

एकत्व वितर्क अविचार :

क्षीण मोह अर्थात् बारहवें गुण स्थान में रहनेवाला मुनि तीन में से किसी एक योग के द्वारा एक द्रव्य का जो ध्यान करता है, वह एकत्व वितर्क अविचार नामक दूसरा शुक्ल ध्यान है । इसमें विचार का सद्भाव नहीं है, इसलिए यह अविचार होता है[90]।

सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति :

जो ध्यान वितर्क और विचार से रहित है तथा सूक्ष्मकोय योग के अवलम्बन से होता है, वह सूक्ष्मक्रिय नामका शुक्ल ध्यान है । यह समस्त पदार्थों को विषय करनेवाला है । अत्यन्त सूक्ष्म काय योग में विषमान केवली भगवान इस प्रकार के काय योग को रोकने के लिए इस शुक्ल ध्यान का ध्यान करते हैं [91]।

व्युपरत क्रिया निवृत्ति :

जो वितर्क और विचार से रहित है तथा जिसमें योगों का बिल्कुल निरोध हो जाता है, वह व्युपरत क्रिय निवृत्ति नामक शुक्ल ध्यान है। जब केवली शैलशी करते हैं, उस समय उनके आत्म प्रदेशों की अवगाहना शरीर-अवगाहना से एक तिहाई हीन हो जाती हैं क्योंकि शरीर में मुख, नाक, कान आदि में जो छिद्र हैं, वे पूरित हो जाते हैं जिससे आत्मा के प्रदेश घनीभूत हो जाते हैं। अतः आत्मा के प्रदेशों की अवगाहना मुक्त शरीर की अवगाहना से त्रिभागहीन रह जाती है। इसके पश्चात् सकल योग का निरोध होने पर व्युपरत सकल क्रिय नामक चौथा शुक्ल ध्यान होता है [92]।

इस प्रकार मुनि आदि के दो शुक्ल ध्यानों को प्राप्त कर अष्ट कर्मों के नायक मोहनीय कर्म को जड़ से नष्ट कर डालता है [93]। और शेष ध्यानों द्वारा वे समस्त अवशिष्ट कर्म

प्रकृतियों को क्षय कर औदारिक, वैक्रियिक और कार्मण शरीर से मुक्त होता हुआ स्पर्श रहित ऋजुश्रेणी गति को प्राप्त करके विग्रह रहित एक समय में बिना किसी बाधा के उपर जाकर लोक के अग्रभाग को प्राप्त कर जन्म, जरा, मरण और रोग से विमुक्त होकर विमल सिद्ध क्षेत्र में साकार उपयोग से सिद्धिपद को प्राप्त होते हैं[94]।

वैयावृत्य आभ्यान्तर तप :

आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शेक्ष, गुण, कुल, संघ, रोगी, साधु और मनोज्ञ-इन दस प्रकार के साधुओं की सेवा-शश्रूषा करने को वैयावृत्य कहते हैं। यह वैयावृत्य आचार्य आदि दस प्रकार के मुनियों को होता है। इसलिए आश्रय के भेद से वैयावृत्य तप भी दस प्रकार का माना गया है [95]।

विनय आभ्यांतर तप :

सम्यक् दर्शन और सम्यक्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र के प्रति मन, वचन-काय से जो आदर भाव प्रकट किया जाता है, उसे विनय आभ्यांतर तप कहते हैं [96]। वास्तव में विनय समस्त मानवीय गुर्णों में प्रधान है। विनय के चार भेद हैं- ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय, उपचार विनय [97]।

दर्शन विनय :

जीवादि सप्त तत्वों के विषय में जहाँ निःशङ्कता आदि लक्षणों से सहितपना होता है, वह दर्शन विनय है।

ज्ञान विनय :

जो बहुत सम्मान आदि के साथ ज्ञान का ग्रहण, अभ्यास तथा स्मरण आदि किया जाता है, वह ज्ञान विनय है। मुनि को ज्ञान विनय होता है।

चारित्र विनय :

सम्यक्त्व और ज्ञान से युक्त पुरुष की चारित्र के प्रति जो उत्सुकता है, वह चारित्र विनय है।

उपचार विनय :

विनय करने के योग्य आदरणीय पुरुषों को देखकर उठना, उन्हे बैठने के लिए आसन देना, उनके आगे हाथ जोड़ना, उनके उपकरण लेना, पैर धोना, अङ्ग दबाना आदि उपचार विनय है [98]।

उत्सर्ग आभ्यन्तर तप :

कायोत्सर्ग आदि करना व्युत्सर्ग है। इसके दो भेद हैं- (१) बाह्य व्युत्सर्ग (२) आभ्यन्तर व्युसर्ग।

बाह्य व्युत्सर्ग तप :

अधिक उपकरण, भत्तपान आदि के त्यागने को बाह्य व्युत्सर्ग तप कहते हैं। अर्थात् खेत आदिक बाह्य परिग्रह का त्याग बाह्य व्युत्सर्ग है।

आभ्यन्तर व्युत्सर्ग तप :

मिथ्या् दर्शन आदि के त्यागने को आभ्यन्तर व्युत्सर्ग कहते हैं। अर्थात् क्रोधादि परिग्रह का त्याग आभ्यन्तर व्युत्सर्ग है[99]।

स्वाध्याय आभ्यान्तर तप :

स्वाध्याय तप के पाँच भेद हैं- वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाभ और धर्मोपदेश[100]। शब्द तथा अर्थ के पाठ को वाचना स्वाध्यायतप, सन्देह दूर करने के लिए पूछने को पृच्छना स्वाध्यायतप, आगमार्थ का मन में चिन्तन करने को अनुप्रेक्षा स्वाध्यायतप, पाठ-शुद्धतापूर्वक उच्चारण करने को आम्नाय स्वाध्याय तप, आक्षेपणी-विक्षेपणी-संवेदनी तथा निर्वेदनी कथा के कथन को धर्मोपदेश स्वाध्याय तप कहा गया है।

ब्रह्मचर्य धर्म :

ब्रह्मचर्य उत्तम धर्म है। प्रशमरति प्रकरण में इसके स्वरुप का कथन करते हुए बतलाया गया है कि मैथुन से निवृत्त होने को ब्रह्मचर्य धर्म कहा गया है [101]। आशय यह है कि स्त्री से संबंध रखनेवाले शयूया आदि पदार्थ, पूर्व काल में भोगी हुई स्त्री का स्मरण तथा स्त्री संबंधी कथावार्त्ता सुनने के त्याग करने से ब्रह्मचर्य धर्म का पालन होता है।

ब्रह्मचर्य के अट्ठारह भेद हैं :- भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवियों के भोग-सुख से मन-वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदनापूर्वक विरत होने से नौ भेद और औदारिक शरीर संबंधी काय भोग से विरत होने के कारण नौ भेद होते हैं। इस प्रकार ब्रह्मचर्य के अट्ठारह भेद होते हैं [102]।

आकिंचन्य धर्म :

आकिंचन्य उत्तम धर्म है। प्रशमरति प्रकरण में आकिंचन्य धर्म की परिभाषा देते हुए बतलाया गया है कि परिग्रह के अभाव अर्थात् धर्म के उपकरणों के सिवाय अन्य कुछ भी परिग्रह के न रखना अकिंचन्य धर्म है [103]। अध्यात्मज्ञानी निश्चयनय से आत्मा के मोह परिणाम को ही परिग्रह कहा गया है, क्योंकि उसके होने से मनुष्य बाह्य परिग्रह के संचय

में प्रवृत्त होता है। अतः जो वैराग्य के अभिलाषी हैं, वही आकिंचन्य परम धर्म है [104]।

इस प्रकार दस धर्म के पालन करने से चिरकाल के संचित दुर्भेद्य, राग, द्वेष और मोह का थोड़े ही समय में उपशम हो जाता है[105] तथा अहंकार और ममकार के त्याग करने से अत्यन्त दुर्जय, उद्धत और बलशाली परीषह, गौरव, कषाय, योग और इन्द्रियों के समूह भी नष्ट हो जाते हैं[106]। अतः कषायादि पर विजय पाने के लिए दस धर्म का पालन करना अत्यावश्यक है। जबतक मुनि कषाय पर विजय नहीं प्राप्त करेगा, तबतक वह हिंसा आदि पाँच पापों से विरत नहीं हो सकता है और इससे विरत होने के लिए मुनियों को व्रती होना परमावश्यक है। इसलिए आगे व्रत के स्वरुपदि का कथन किया गया है।

व्रत का स्वरुप :

पापों से विरत होना व्रत है। आगे व्रत के स्वरुप का कथन करते हुए बतलाया गया है कि हिंसा, असत्य, अचौर्य, कुशील (मैथुन) और परिग्रह-पाँच पाप हैं। इन पापों से निवृत्त होना व्रत है।

व्रत के भेद :

इसके दो भेद हैं- (1) अणुव्रत (2) महाव्रत। हिंसा आदि पाँच पापों से एक देश निवृत्ति होने को अणुव्रत और सर्वदेश निवृत्ति होने को महाव्रत कहा गया है [107]।

महाव्रत :

प्रशमरति प्रकरण में महाव्रत के पाँच भेद बतलाये गये हैं- अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह[108]।

अहिंसा :

अहिंसा प्रधान महाव्रत है। अहिंसा का अर्थ होता है - हिंसा न करना। हिंसा महापाप स्वरुप है। प्रशमरति प्रकरण में हिंसा के स्वरुप का कथन कर बतलाया गया है कि किसी भी जीव को प्रमादपूर्वक घात करना या कष्ट देना हिंसा है[109]।

हिंसा के दो प्रकार हैं - द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा। यहाँ हिंसा का प्रमुख कारण प्रमाद का योग है, क्योंकि प्रमाद का योग रहते हुए बाह्य में हिंसा न होने पर भी हिंसा मानी जाती है और प्रमाद का योग न होने पर बाह्य में हिंसा होने पर भी हिंसा नहीं मानी जाती। इस प्रकार निद्रा, विषय, विकट और विकथा - पाँच प्रकारवाला प्रमाद ही हिंसा का प्रमुख कारण है[110]। इस प्रकार हिंसा से सर्वदेश निवृत्ति अहिंसा महाव्रत है।

अहिंसा व्रत की भावनाएँ :

अहिंसा महाव्रत को स्थिर करने के लिए इसकी पाँच भावनाएँ बतलायी गईं हैं जो इस

प्रकार हैं- वचन-मनोगुप्ति, ईर्या-आदान निक्षेपण समिति और आलोकितपान भोजन [111]।

सत्य :

सत्य दूसरा महाव्रत है। असत्य से विरत होना ही सत्य व्रत है। सच्ची बातों को छिपाना, झूठी बात प्रकट करना, कडुआ, कठोर और सावद्य बचन बोलना असत्य है[112]। असत्य का मुख्य कारण प्रमाद ही है। इसके अनेक प्रकार होते हैं। जैसे-(1) सद् को असत् कहना,यथा आत्मा नहीं है (2) असत् को सत् कहना, जैसे आत्मा व्यापक है (3) विपरीत वचन, जैसे गाय को घोड़ा कहना (4) कड़वे वजन बोलना (5) सावद्य वचन, जैसे इस मार्ग में हिरणों का झुण्ड गया है, ऐसा बतलाना । इस प्रकार कटुक सावद्य वचन भी असत्यस्वरुप है, क्योंकि इससे भी हिंसा होती है।[113] अतः असत्य रुप महापाप का सर्वथा त्याग करना ही सत्य महाव्रत है। अर्थात् असत्य से सर्वथा विरत होना ही सत्य महाव्रत है। यह महाव्रत अहिंसा महाव्रत की रक्षा के लिए आवश्यक है।

सत्य व्रत की भावनाएँ :

अहिंसा महाव्रत की तरह सत्य महाव्रत की भावनाओं का पालन करना अतिआवश्यक है। इसकी भी पाँच भावनाएँ हैं - (1) अनुवीचि भाषण (2) क्रोध प्रत्याख्यान, (3) लोभ प्रत्याख्यान (4) निर्भयता और (5) हास्य प्रत्याख्यान[114]। इस प्रकार उक्त भावनाओं के पालन नहीं करने पर यह व्रत दूषित हो जायेगा।

अस्तेय :

अस्तेय तीसरा महाव्रत है। इसके स्वरुप का कथन करते हुए बतलाया गया है कि स्तेय से सर्वदेश विरत होना अस्तेय है। यहाँ स्तेय पाप स्वरुप है। इसका अर्थ चौर्य है। इस प्रकार चौर्य बुद्धि से पर-धन का हरण करना स्तेय है। अर्थात् प्रमाद के योग से बिना दिये हुए पदार्थ को ग्रहण काना स्तेय या चौर्य है [115]। स्तेय का मुख्य कारण प्रमाद ही है। इस प्रकार स्तेय एवं इसके कारणों का सर्वदेश निवृत्ति होना अस्तेय महाव्रत है।

अस्तेय व्रत की भावनाएँ :

अस्तेय महाव्रत की रक्षा के लिए पाँच भावनाओं का पालन करना आवश्यक् है। इसकी पाँच भावनाएँ इस प्रकार हैं [116] - शून्यागारवास, विमोचित गृहावास, उपरोधाविधान, यथोदित भैक्ष्य शुद्धि और सधर्मा विसंवाद। अस्तेय महाव्रत पंच भावनाओं के बिना दूषित हो जाता है। अतः इन भावनाओं का सम्यक् आचरण करने पर ही यह महाव्रत स्थायी होता है।

अमैथुन (ब्रह्मचर्य) :

अमैथुन भी महाव्रत है। इसका अर्थ होता है- मैथुन का अभाव। मैथुन के स्वरुप का

कथन करते हुए बतलाया गया है कि स्त्री-पुं० एवं नपुंसक वेद के उदय से रमण करने की क्रिया मैथुन है और मैथुन ही अब्रह्म है[117]। इस प्रकार मैथुन का सर्वदेश त्याग अमैथुन (ब्रह्मचर्य) महाव्रत है।

अमैथुनव्रत की भावनाएँ :

इस व्रत को दृढ़ करने के लिए पाँच भावनाओं का कथन किया गया है। श्रृंगारात्मक कथावार्ता सुनना या सुनाने का त्याग करना, स्त्रियों के रमणीय अङ्गों के देखने का त्याग करना, पूर्वकाल में भोगी हुई रति के स्मरण का त्याग करना, कामोत्तेजक गरिष्ट रसों का त्याग करना और शरीर संस्कार का त्याग करना- ब्रह्मचर्य महाव्रत की पाँच भावनाएँ है। इन भावनाओं के सम्यक् पालन के लिए इनका सदैव स्मरण करना आवश्यक है। इसके पालन नहीं करने से यह महाव्रत दूषित हो जाता है।

अपरिग्रह :

अपरिग्रह पाँचवा महाव्रत है। अपरिग्रह का अर्थ होता है परिग्रह का न होना। प्रशमरति प्रकरण में परिग्रह के स्वरुप का कथन किया गया है और बतलाया गया है कि बाह्य गाय, भैंस, मणि, मुक्ता आदि चेतन-अचेतन वस्तुओं में तथा आन्तरिक राग-द्वेष, काम-क्रोधादि विकारों में जो ममत्व भाव है, वही मूर्छा है और मूर्छा ही परिग्रह है [118]। बाह्य वस्तुओं को तो इसलिए परिग्रह कहा गया है कि वे ममत्व भाव के होनें में कारण होती हैं। रात्रि भोजन का अन्तर्भाव परिग्रह के लक्षण में कर लिया गया हैं, क्योंकि रात्रि भोजन अति लालसा का सूचक है[119]। इस प्रकार परिग्रह का सर्वदेश त्याग ही अपरिग्रह महाव्रत है।

अपरिग्रह व्रत की भावनाएँ :

इस व्रत को सुदृढ़ करने के लिए पाँच भावनाओं का कथन किया गया है। वे अपरिग्रह की पाँच भावनाएँ इस प्रकार हैं : मनोज्ञ या अमनोज्ञ स्पर्श, रस, गन्ध, रुप एवं शब्द पर समभाव रखना। अर्थात् पाँच इन्द्रियों में राग-द्वेष का सर्वथा त्याग करना ही अपरिग्रह महाव्रत की पाँच भावनाएँ हैं[120]।

मुनि द्वारा मोक्ष-प्राप्ति की प्रक्रिया :

उक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह - पाँच महाव्रत हैं। जिनमें अहिंसा महाव्रत प्रमुख हैं और शेष महाव्रत अहिंसा को सुरक्षा प्रदान करते हैं। जो मुनि इन पंचमहाव्रतों का सम्यक् पालन करते हैं, वे सम्यग्दर्शन - ज्ञान- चारित्र को प्राप्त कर प्रशम सुख को प्राप्त करते हैं। परन्तु व्रत तथा तप बल से युक्त होते हुए भी जो उपशान्त नहीं है, वे मुनि उस गुण को प्राप्त नहीं कर सकते जिस गुण को प्रशम सुख में स्थित साधु करते हैं[121]। प्रशम गुण वाला साधु ही शील के अट्ठारह हजार अंगों[122] को

बिना यत्न के ही साधता है[123] और उत्कृष्ट वैराग्य को प्राप्त कर अपूर्व करण नामक आठवें गुणस्थान का धारण करता है[124] । वह मुनि प्राप्त ऋद्धियों में सर्वस्व नही रहता है[125] तथा उन श्रद्धियों पर विजय प्राप्त करके सभी भावों में भी दुलर्भ यथाख्यात चारित्र को तीर्थंकर के समान प्राप्त करता है[126] पृथक्त्व विर्तक सविचार और एकत्व विर्तक अविचार नामक शुल्क ध्यान के बल से आठ कर्मों के नायक मोहनीय कर्मों को जड़ से नष्ट कर डालता है[127]। वह क्रमशः अनन्तानुबंधी- क्रोध, मान, माया-लोभ कषायों, मिथ्यात्व मोह, सम्यक्तव-मिथ्यात्व, सम्यक्त्व, अप्रत्याख्यान क्रोध,मान-माया-लोभ प्रत्याख्यान नुपंसक-स्त्री-पुरुष वेद, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, संज्वलन क्रोध-मान-माया-लोभ को क्षय कर वीतरागता को प्राप्त करता है[128] ।

इस प्रकार समस्त मोह को नष्ट एवं क्लेशों को दूर करके मुनि सर्वज्ञ की तरह न दिखाई देनेवाले राहु के भाग से छूटे हुए पूर्णचन्द्र के समान सुशोभित होता है। जिस प्रकार सर्वज्ञ ज्ञानावरणादि कर्मों से युक्त हुआ मुनि राहु के ग्रहण से मुक्त पूर्णिमा के चन्द्र सदृश सुशोभित होता है[129] । वही मुनि अन्तर्मुहूर्त्त काल तक छद्मस्थ वीतराग रहकर एक साथ ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म को क्षय करके नित्य, अनन्त, निरतिशय, अनुपम, अनुत्तर सम्पूर्ण और अप्रतिहत केवलज्ञान को प्राप्त करता है[130] । जब मुनि मोह, ज्ञानावरण आदि घातिया कर्मो का क्षय कर देता है तो उसके शरीर बनाये रखने के कारण वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र-चार अघातिया कर्म शेष रह जाते है। इन चारो कर्मों का अनुभव करता हुआ केवल ज्ञानी जघन्य में दो घड़ी तक और उत्कृष्ट से आठ वर्ष क्रम एक पूर्व को त्रिकाल तक भव्य जीवों को धर्मोपदेश करता हुआ विहार करता है[131] । अन्तिम भव की आयु अभेद्य होती है, क्योंकि इसका अपवर्तन नहीं होता और इस आयु से उपगृहीत वेदनीय कर्म भी उसी के समान अभेद्यव होता है तथा नाम-गोत्र कर्म भी उसी के समान अभेद्य होते हैं[132] । किन्तु जिस केवली के वेदनीयादिक कर्म आयुकर्म से अधिक स्थिति के होते हैं, वे उनको बराबर करने के लिए समुद्धात करते है ।

जब केवली समुद्धात से निवृत्त होते हैं तब वे मुनियों के योग्य योग धारण करते हुए मन-वचन-काय-रुप योग का निरोध करते हैं[133] । काय निरोध करते ही उन्हें क्रमशः सूक्ष्म-क्रिय-अप्रतिपाति शुक्ल ध्यान होता है जिसके द्वारा वे अवशिष्ट कर्म प्रकृतियों को क्षय कर देते हैं[134] । अन्तिम भव में जिस केवली का जितना आकार और जितनी उँचाई होती है, उससे उसके शरीर का आकार और उँचाई एक तिहाई कम हो जाती है[135] । वे केवली उत्कृष्ट प्रशमसुख को प्राप्त करके क्षायिक सम्यक्त्व केवलज्ञान ओर केवल दर्शनरुप स्वभाव से युक्त हो जाते हैं [136]। वे शरीर रुपी बन्धन को त्याग कर और अष्ट कर्मों को क्षय करके मनुष्यलोक में नही ठहरते, क्योंकि यहाँ ठहरने का न तो कोई कारण है न आश्रय और न कोई व्यपार है [137]। वे नीचे भी नही जाते, क्योंकि इसमें गौरव का अभाव है। वे जहाज आदि की तरह लोकान्त से आगे भी नहीं जाते, क्योंकि वहाँ सहायक धर्म द्रव्य का अभाव है। योग और क्रिया के अभाव होने से वह तिरछा भी गमन नहीं करता है। अतः मुक्त सिद्ध जीव

की गति उपर सीधी लोक के अन्त तक होती है [138]। यदि मुक्त जीव को क्रिया नहीं है, फिर भी वह उर्ध्वगमन करता है। जिस प्रकार कुम्हार पहले दण्ड के सहारे से चक्र को घुमाता है और इसके पश्चात् दण्ड के हटा लेने पर भी चक्र घूमता ही रहता है, उसी प्रकार सूक्ष्म-क्रिय अप्रतिपाति नामक तीसरे शुक्ल ध्यान के समय में आत्म प्रदेशों की अवगाहना को एक तिहाई हीन करते हुए जीव में क्रिया का जो संस्कार रह जाता है, उसी संस्कारवश वह उर्ध्वगमन करता है।

जिस प्रकार अरण्डफल के फूटते ही इसके बीज चिटक कर उपर की ओर जाते हैं, उसी प्रकार कर्म-बंध के टूटने पर मुक्तात्मा उपर की ओर जाता है। जैसे मिट्टी आदि के लेप के भार से मुक्त होते ही तुम्बी जल के अन्दर से तुरन्त उपर आ जाती है, वैसे ही समस्त संग परिग्रह से मुक्त हुआ जीव उपर की ओर जाता है और जिस प्रकार दीपक की शिखा वायु आदि के निमित्त न मिलने पर स्वभाव से उपर की ओर हो जाती है, उसी प्रकार मुक्तात्मा भी उर्ध्वगमन करता है।[139] इस प्रकार वही मुनि मुक्त होकर लोकाग्र भाग में सदा के लिए स्थित होकर जन्म-मरण के चक्कर से छूट जाता है। परन्तु जो मुनि सम्यक्दर्शन - ज्ञान- चारित्र सम्पन्न एवं संयमी होते हुए संहनन, आयु, बल, काय, शक्ति सम्पदा और ध्यान की कमी एवं कर्मों के अतिनिविड़ होने के करण स्वार्थ सिद्धि पर्यंत किसी एक विमान में आदरणीय शुद्धि, कान्ति और शरीर का धारक वैमानिक देव होता है[140] और केवल तीन ही भव धारण करके मुक्त हो जाता है [141]।

इस प्रकार मुनि-आचार परम उत्कृष्ट है और इसके सम्यक् पालन करने से ही मोक्ष-प्राप्ति संभव है। अतः मुनि को इसका सम्यक् आचरण करना चाहिए ताकि इन्हें परम निर्वाण की प्राप्ति हो सके, क्योंकि जीव का परम लक्ष्य ही यही है।

गृहस्थाचार :

उपासकाध्ययन, श्रावकाचार, सागारधर्मामृत, श्रावकधर्म एंव प्रवचनसार आदि ग्रन्थों में गृहस्थ के आचार पालन संबंधी नियमों का विस्तृत विवेचन उपलब्ध है। श्रावक के पालन करने योग्य बारह व्रत बतलाये गये हैं, जिन्हें समन्तभद्राचार्य ने इसे अणुव्रत, गुणव्रत एवं शिक्षाव्रत - तीन भागों में विभक्त किया है।

प्रशमरति प्रकरण भी आचार विषयक ग्रन्थ है जिसमें गृहस्थ के संबंध में प्रकाश डालते हुए बतलाया गया है कि जो व्यक्ति मुनि-मार्ग का अनुसरण नहीं कर सकता है, उनके लिए देश, काल, भाव और शक्ति आदि की परिस्थितियों के अनुसार सुविधा देने वाला सरल मार्ग गृहस्थाचार हैं। परन्तु यह साक्षात् मुक्तिमार्ग न होकर क्रमशः जीव को मुक्ति-प्राप्ति का सहायक कारण है [142]।

गृहस्थ का स्वरुप :

प्रशमरति प्रकरण मे गृहस्थ के स्वरुप का कथन किया गया है और बतलाया गया है

कि जो गृहस्थ अणुव्रत, गुणव्रत एवं शिक्षाव्रत का सम्यक् पालन करता है, उसे श्रावक या अगारी कहा गया है। अर्थात् श्रावक के लिए पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत एवं चार शिक्षाव्रत-कुल बारह व्रत होते हैं। जो इनका समयक् पालन करता है, वही अगारी कहलाता है [143]। प्रशमरति प्रकरण में वर्णित श्रावक के बारह व्रत निम्न प्रकार हैं।

अहिंसाणुव्रत :

श्रावक का प्रथम व्रत अहिंसाणुव्रत है। अहिंसाणुव्रत के स्वरुप का कथन करते हुए बतलाया गया है कि स्थूल हिंसा का त्याग करना, अहिंसाणुव्रत है। श्रावक बादर जीव की हिंसा नहीं करता परन्तु पृथ्वीकाय आदि सूक्ष्म जीव की हिंसा का त्याग भी नहीं करता है। इस प्रकार हिंसा के दो भेद हैं - (1) संकल्पी (2) आरंभी। मै इसे मारुँगा, ऐसा ह्दय मे संकल्प करके जो किसी भी प्राणी का वध किया जाता है, वह संकल्पी हिंसा है और आरंभ करने से जो हिंसा होती है, वह आरंभी हिंसा है।

श्रावक संकल्पी हिंसा का त्याग करता है, आरंभी का नहीं, क्योंकि आरंभ किये बिना उसका जीवन-व्यापार नहीं चल सकता । अतः स्थूल अर्थात् संकल्पी हिंसा का त्याग पहला अहिंसाणुव्रत है [144]।

सत्याणुव्रत :

श्रावक का दूसरा व्रत सत्याणुव्रत है। प्रशमरति प्रकरण में सत्याणुव्रत के स्वरुप पर विचार किया गया है और बतलाया गया है कि स्थूल झूठ का त्याग करना सत्याणुव्रत है। जो वस्तु जैसी है, उसे वैसी न बतलाकर अन्यथा भाषण किया जाता हैं, श्रावक उसका त्याग नहीं करतां है [145]।

अचौर्याणुव्रत :

श्रावक का तीसरा व्रत अचौर्याणुव्रत है। प्रशमरति प्रकरण मे अचौर्याणुव्रत के स्वरुप का कथन किया गया है और बतलाया गया है कि स्थूल चोरी का त्याग करना, अचौर्याणुव्रत है। अर्थात् चौर्य पाप के एक देश त्याग, अचौर्याणुव्रत है। बिना दी हुई वस्तु के ग्रहण करने को चौर्य कहा गया है। जिसके ग्रहण करने से मनुष्य चोर कहलाता है, वह स्थूल चोरी है जो त्याज्य है। इस प्रकार स्थूल चोरी का त्याग करना अचौर्यार्णव्रत है [146]।

ब्रह्मचर्याणुव्रत :

श्रावक का चौथा व्रत ब्रह्मचर्याणुव्रत है। इसके स्वरुप का कथन कर बतलाया गया है कि स्थूल मैथुन का त्याग करना ब्रह्मचर्याणुव्रत है। यह दो प्रकार का है- (1) स्वदार संतोष और (2) परदार निवृत्ति। स्वदार सन्तोषव्रती के लिए परस्त्री सेवन और वेश्यागमन - दोनो ही स्थूल हैं, इसलिए वह दोनों का त्याग करता है। किन्तु परदार निवृत्ति का पालक परस्त्री

गमन का तो त्याग करता है, पर वेश्वागमन का त्याग नहीं करता, क्योंकि वह किसी की परिगृहीत स्त्री नहीं है अतः स्थूलब्रह्म का त्याग ही ब्रहमचर्याणुव्रत है[147]।

अपरिग्रहाणुव्रत :

यह श्रावक का पांचवा अणुव्रत है। अपरिग्रहाणुव्रत का अर्थ है- अपरिग्रह व्रत का एक देश पालन करना। इसके स्वरुप का कथन कर बतलाया गया है कि सर्वदा विषयों में प्रीति करने का और व्रतपालन आदि क्रियाओं में द्वेष करने का त्याग करना अपरिग्रहाणुव्रत हैं। इस व्रत को इच्छा-परिमाण भी कहते हैं। अर्थात् खेत, मकान, आदि की इच्छा का परिमाण करना कि इतने मकान, खेत, इतना सोना-चाँदी, धन-धान्य आदि रखने का मैं नियम करता हूँ - यह इच्छा परिमाण या अपरिग्रहाणुव्रत है। इस व्रत का पालन करनेवाला श्रावक संयमित हो जाता है [148]।

दिग्व्रत :

श्रावक का छठवाँ व्रत दिग्व्रत है। यह अहिंसा आदि पाँच मूल गुणों को बढ़ाता है। इसलिए इसे गुण व्रत कहा जाता है। प्रशमरति प्रकरण में दिग्व्रत के स्वरुप का कथन किया गया है और बतलाया गया है कि हिंसा तथा आरम्भ आदि को कम करने के अभिप्राय से जीवन पंत के लिए दशो दिशाओं में आवागमन की सीमा निश्चित करना दिग्व्रत है। अर्थात् चारों दिशाओं में तथा उपर-नीचे जाने का परिमाण करना कि मैं अमुक दिशाओं मैं अमुक स्थान तक ही जाउँगा, उससे आगे नहीं जाउँगा, यह दिग्व्रत है। यह व्रत श्रावक के लिए उपादेय है [149]।

देशव्रत :

यह श्रावक का सातवाँ व्रत है। इसे गुण व्रत के नाम से जाना जाता है। यह गुण व्रत का दूसरा भेद है। प्रशमरति प्रकरण में देशव्रत के स्वरुप पर प्रकाश डालते हुए बतलाया गया है कि दिग्व्रत के भीतर समय की मर्यादा के साथ छोटी सीमा निश्चित करना, देशव्रत है। अर्थात् दिग्व्रत के द्वारा परिमित देश में प्रतिदिन जो गमनागमन की मर्यादा की जाती है, अमुक-अमुक स्थान तक जाउँगा, उसे देशव्रत कहते हैं [150]।

अनर्थदण्ड व्रत :

श्रावक का आठवाँ व्रत अनर्थदण्डव्रत है। यह भी गुणव्रत है। यह अहिंसा आदि पाँच मूल गुणों में वृद्धि करता है। प्रशमरति प्रकरण में अनर्थदण्ड के स्वरूप का कथन करते हुए बतलाया गया है कि मन, वचन और काय के निरर्थक व्यापार का त्याग करना, अनर्थदण्ड व्यापार कहलाता है। अर्थात् बिना प्रयोजन मन-वचन-काय की प्रवृत्ति करने को अनर्थदण्ड कहते है। इसके अनेक भेद है और इसके त्याग को अनर्थदण्ड व्रत कहते हैं। यह व्रत भी श्रावक के लिए आचरणीय है[151]।

सामायिक शिक्षाव्रत :

श्रावक का नवाँ व्रत सामायिक शिक्षाव्रत है। इस व्रत में मुनिव्रत के अभ्यास की शिक्षा मिलती है। प्रशमरति प्रकरण में सामायिक शिक्षाव्रत के स्वरुप का कथन किया गया है और बतलाया गया है कि प्रतिक्रमण को अथवा मन, वचन, काय से सावद्य प्रवृत्ति त्याग करने को सामायिक शिक्षाव्रत कहते हैं। प्रातःकाल, मध्याह्न काल एवं सायंकाल कम से कम दो घड़ी तक समता भाव रखते हुए श्रावकों को सामायिक करना अभीष्ट है [152]।

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत :

श्रावक का दसवाँ व्रत प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत है। यह मूल गुणों में वृद्धि करता है। इसके स्वरुप का कथन कर बतलाया गया है कि प्रत्येक अष्टमी और चतुदर्शी को धारण और पारणा के दिन को एकासन के साथ उपवास करना प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत है। अष्टमी, पूर्णमासी आदि के दिन के आहार आदि को प्रोषध कहते हैं। इसके चार भेद हैं - आहार का त्याग, शरीर के संस्कार का त्याग, ब्रहमचर्य धारण और पापयुक्त व्यापार का त्याग [153]। यह व्रत श्रावक के लिए आचरणीय है।

भोगोपभोग परिणाम शिक्षाव्रत :

श्रावक का ग्यारहवाँ व्रत भोगोपभोग परिमाण शिक्षाव्रत है। भोग और उपभोग में आनेवाली वस्तुओ की संख्यो निश्चित करना भोगोपभोग परिमाण है। पुष्प, धूप, स्नान, अंगराग आदि जिन वस्तुओं को एकबार ही भोगा जाय, उन्हें भोग कहा गया है। और वस्त्र, शय्या आदि जो वस्तुएँ बार-बार भोगने में आती हैं, उन्हें उपभोग कहा गया है तथा उनके परिमाण करने को भागोपभोग परिमाण व्रत कहा गया है।

परिमाण दो प्रकार के बतलाये गये हैं - (1) एक भोजन की अपेक्षा और (2) दूसरा कार्य की अपेक्षा से । भोजन, पान, खाद्य, स्वाद्य आदि का परिमाण करना तथा मद्य, मांसमधु, अनन्तकाय आदि का त्यागना भोजन की अपेक्षा से परिमाण करना है तथा आग, वन, गाड़ी-घोड़ा आदि पन्द्रह प्रकार के स्वकर्मों से आजीविका का त्याग करना कर्म की अपेक्षा से परिमाण करना है। इनका परिमाण यम और नियम दोनों रुपों से होता है। और सेव्य वस्तुओं का त्याग तो यमरुप ही होता है और सेव्य वस्तुओं का त्याग यम तथा नियम दोनों रुप होता हैं जीवन पर्यंत के लिए त्याग करना यम है। और समय की मर्यादा के साथ त्याग करना नियम है [154]। यह श्रावक के लिए पालन करने योग्य है।

(12) अतिथि संविभाग :

श्रावक का बारहवाँ व्रत अतिथि संविभाग शिक्षाव्रत है। प्रशमरति प्रकरण में इसके स्वरुप का कथन किया गया है और बतलाया गया है कि अतिथि-योग्य पात्र के लिए चार प्रकार

का दान देना अतिथि संविभाग है। पोषध की पारणा के समय में न्यायपूर्वक अनिन्दनीय व्यापार के द्वारा उपार्जित द्रव्य से खरीदे गये शुद्ध चावल, घी आदि द्रव्यों से साधु के उद्देश्य से न बनाये गये भोजन में से घर आये हुए साधुओं को विधिपूर्वक जो दान दिया जाता है, उसे अतिथि संविभाग शिक्षाव्रत कहा गया है।

पात्र ग्रहण से यह स्पष्ट है कि घर पर पधारे हुए साधुओं को ही आहार दान देना हितकर है। साधुओं को आहार दान उनकी बस्तियों में जाकर अपने पात्र में नहीं देना चाहिए। अतिथि संविभागीव्रती श्रावक, जो वस्तु साधुओं को नहीं देता, पारणा के समय वह उस वस्तु को भी स्वयं नहीं खाता है[155]। यह व्रत श्रावक के लिए आचरणीय है।

इस प्रकार श्रावक के बारह व्रत होते हैं। श्रावक इन बातों का सम्यक् पालन करता है तथा इन व्रतों का पालन करता हुआ वह अपनी शक्ति के अनुसार गाजे-बाजे, स्वजन-परिवार के बड़े भारी समारोह के साथ, जिससे प्रवचन की प्रभावना हो, उस ढ़ंग से चैत्यालयों की प्रतिष्ठा करता है तथा दीप, धूप, माला आदि से जिनेन्द्र भगवान की अर्चना करता है। उसकी सदैव यही अभिलाषा रहती है कि कब साधु बनकर कषाय रुपी शत्रुओं को जीतूं। इसके साथ ही वह तीर्थंकर भगवान, आचार्य, उपाध्याय आदि गुरु और साधुजनों को नमस्कार करने में सदैव संलग्न रहता है तथा वह शास्त्र प्रतिपादित षट्कर्मों को नित्य प्रति करता रहता है। देवपूजा, गुरुउपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान- ये छह दैनिक षट्कर्म हैं। इनमें देवपूजा आत्म शुद्धि का विशेष कारण है। स्वाध्याय धर्म की स्थिरता का हेतु है और दान-कर्म लोकोपकार का मुख्य साधन है [156]।

संलेखना व्रत :

श्रावक के बारह व्रतों के अतिरिक्त एक अन्य व्रत संलेखना व्रत है। इस व्रत का पालन श्रावक जीवन के अंतिम व्रत है। इस व्रत का पालन श्रावक जीवन के अंतिम समय में करता है। अतः यह भी एक उत्तम व्रत है।

प्रशमरति प्रकरण में संलेखना व्रत के स्वरुप का कथन किया गया है तथा बतलाया गया है कि भाव कषायों को कृश करते हुए मरण करना संलेखना है। इसे समाधि-मरण या संन्यासमरण कहते हैं। श्रावक का जब मरणकाल आता है तब वह शरीर और कषाय आदि को कृश करके आज्ञाविचय आदि ध्यान के द्वारा जीने-मरने की इच्छा आदि दोषों से रहित संलेखना पूर्वकमरण करता है [157]।

गृहस्थ द्वारा मोक्ष प्राप्ति नियम :

इस प्रकार वह श्रावक व्रतों का पालन करके संलेखनापूर्वक आराधना कर मरणोपरांत देव लोक में इन्द्र पद को प्राप्त करता है। वहाँ पर अपने पद के अनुरुप जघन्य, मध्यम अथवा उत्कृष्ट सुख को भोगता हुआ आयु के क्षय होने पर वहाँ से च्युत होकर वह मनुष्य लोक

में जन्म लेता है। यहाँ पर भी उसे जाति, कुल, वैभव, रुप, सौभाग्य आदि सम्पदा तथा सम्यक्त्व आदि प्रशस्त गुण प्राप्त होते हैं। इस प्रकार सुख की परम्परा का भोग करते हुए वह श्रावक आठ भवों के अन्दर ही नियम से मोक्ष प्राप्त ,करता है [158]।

मुनि आचार उपादेय :

उक्त विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि मुनि आचार तथा गृहास्थाचार दोनों में मुनि का आचार परम उत्कृष्ट होने के कारण उपादेय है। इसका स्वाभाविक फल मोक्ष-प्राप्ति है। गृहस्थाचार का वैषयिक फल स्वर्ग एवं परम्परा से मोक्ष-प्राप्ति है। अतः इन दोनों आचारों में मोक्ष की दृष्टि से मुनि-आचार अत्यंत महत्वपूर्ण है [159]।

इस प्रकार यह निर्विवादतः सिद्ध है कि जो मुनि गुप्ति, समिति, धर्म, अणुप्रेक्षा, महाव्रत और रत्न-त्रय आदि आचार पद्धति का सम्यक् पालन करता है, उन्हें एकान्तिक, आत्यन्तिक, निरतिशय, अनुपम एवं बाधारहित प्रशम सुख की प्राप्ति होती है। अतः मुमुक्षुओं के लिए मुनि-आचार ही आचरणीय हैं।

सन्दर्भ-सूची

1. प्रवचनसार, आचार्य कुन्दकुन्द, तृतीय अधिकार, गा० 30-31, पृ० 285-88
2. अनुप्रेक्षा मनसा परिवर्त्तमागमस्य। प्रशमरति प्रकरण, 9, का० 176 की टीका, पृ० 122
3. भावयितव्यम .... भावना द्वादश विशुद्धाः। वही, 8, का, 149-150, पृ० 102-103
4. वही, 8, का० 149 की टीका, पृ० 103
5. इष्ट जन संप्रयोग .... सर्वाण्य नित्यानि। प्रशमरति प्रकरण, 8, का० 151, पृ० 104
6. एवं............मोक्षचिन्तायामेव। वही, पृ० 104
7. तथा अशरणत्वम्...........क्वचिदपि शरणम्। वही, 8, का० 150 को टीका, पृ० 103
8. जन्म जरामरण .... क्वचिल्लोके। वही, 8, का० 152, पृ० 104
9. वही, का० 150, पृ० 103
10. एकस्य जन्ममरण .... कार्यम्। वही, 8, का० 153, पृ० 105
11. प्रशमरति प्रकरण, 8, का० 150, पृ० 103
12. अन्याऽहं .... शोक कलिः। वही, 8, का० 150, पृ० 103
13. तथाऽशुचित्व भावना .... शुचित्वादिका। वही, पृ० 103
14. अशुचिकरण .... भवति चिन्त्यः। वही, 8, 155, पृ० 106
15. माता भूत्वा दुहिता .... शत्रुतां चैव। प्रशमरति प्रकरण, 8, का 156, पृ० 107
16. वही, पृ० 156
17. मिथ्या दृष्टिर विरतः ....तन्निग्रहे तस्मात्। वही, 8, का० 157, पृ० 108
18. यापुण्य .... संवरो वरददेशितचिश्चन्त्यः। वही, का० 158, पृ० 109
19. प्रशमरति प्रकरण, 8, का० 159, पृ० 109
20. वही, पृ० 109

21. लोकस्याधस्तिर्यक्त्वं .... इति भावयेत। वही, 8, का, 190 को टीका पृ० 103
22. स्वाख्यातधर्म चिन्तनं .... इति भावयेत। वही, 8, का० 150 को टीका, पृ० 103।
23. प्रशमरति प्रकरण, 8, का० 161, पृ०110
24. (क) बोधरेच दुर्लभता........ भावयेत। वही, का० 150 की टीका, पृ० 103
25. वही, 8, का० 163, पृ० 112
26. वही, 8, का० 164, पृ० 113
27. वही, 8, का० 165, पृ० 114
28. धर्मोऽयं स्वाख्यातो .... संसार सागरं लीलयोत्तीर्ण :। प्रशमरति प्रकरण, 8, का० 161, पृ० 110
29. सेव्यः क्षान्तिर्मार्दवमार्जव .... धर्मविधिः।
30. क्षान्तिः क्षमूष् सहने, क्षमितव्याः आक्रोश प्रहारादयः। वही, 8, का० 167 की टीका, पृ० 115 ।
31. योऽयं दश प्रकारो .... धर्मनिति। प्रशमरति प्रकरण,9,का०168 की टीका, पृ०115-116
32. मार्दवं मान विजयस्तद्धत्तापनोदः। वही, पृ० 115-116
33. जाति कुल रुप बल लाभ बुद्धिवाल्लम्यक श्रुतमदान्धाः। वही, 5, का० 80, पृ० 55
34. वही, 6, का० 81-82, पृ० 56-57
35. वही, 6, का० 83-84, पृ० 57-58
36. प्रशमरति प्रकरण, 6, का० 87-88, पृ० 60-61
37. वही, 6, का० 87-88, पृ० 60-61
38. वही, 6, का० 89-90, पृ० 61-62
39. वही, 6, का० 91-92, पृ० 62
40. प्रशमरति प्रकरण, 6, का० 93-84, पृ० 63-64
41. वही, 6, का० 95-96, पृ० 64-65
42. तदायता गुणाः .... मार्दव सेवनीयम्। - वही, 9, का० 169, की टीका, पृ० 116
43. आर्जवं ऋजुता यथा चरिताख्यायिता। वही, 8, का० 167 की टीका, पृ० 115
44. प्रशमरति प्रकरण, 2, का० 170, पृ० 117
45. शुचि भावः शौचम् - वही, 8, का० 167 की टीका, पृ० 115

46. द्विविधं शौचं द्रव्य भाव भेदात् ।- वही, 9, का० 171 की टीका, पृ० 117
47. यद्द्रव्योपकरण भत्तपान देहाधिकारकं शौचम् । वही, पृ० 117
48. उपकरणमुपकारि .... भवतीति। वही, पृ० 117
49. प्रशमरति प्रकरण, 9, का० 171 की टीका, पृ 117
50. संयमः पंचास्त्रवादि विरमणं पृथिवी काय संयमादिर्वा
51. आर्षेत्वन्येन .... संयम इति। वही, 9, का० 172 की टीका पृ० 118
52. पंचाद्विरमणं .... संयमः सप्तदश भेदः। वही, 9, का, 172, पृ० 118।
53. वही, 9, का० 174 को टीका, पृ० 120
54. प्रशमरति प्रकरण, का० 173 का भावार्थ, पृ० 119
55. सत्यं सद्भवो हित सत्यम् । वही, 8, का० 167 की टीका, पृ० 115।
56. अविसंवादन योगः........ नान्यत्र वही, 9=का० 174, पृ० 120
57. वही, 5, का० 59 की टीका, पृ० 42
58. वही, 9, का० 175 की टीका, पृ० 121 ।
59. वही, 9, का० 175, पृ० 121
60. सत्रानशनं चतुर्थमत्तादि .... पादोपगमनमिति। प्रशमरति प्रकरण, 9, का० 175 को टीका, पृ० 121
61. ऊनोदरता.......... कवलाहार इति। वही, पृ० 121
62. वृत्तिर्वर्तनं भिक्षा तस्याः सक्षेपणं परिभित ग्रहणं। वही, पृ० 121
63. रस त्यागः रसाः क्षीरदधि .... त्यागः। वही, पृ० 120
64. कायक्लेशः कायोत्सर्गोत्कटकासनातापनादिः। प्रशमरति प्रकरण, 9, का० 175 की टीका, पृ० 120-121
65. संलीन आगमोपदेशेन। वही, पृ० 121
66. तद्भावः संलीनता इन्द्रिय नोइन्द्रिय भेदात् द्विधा। वही, पृ० 121।
67. इन्द्रियैः .... इन्द्रिय संलीनः। वही, पृ० 121
68. नोइन्द्रियं मनः ....नोइन्द्रिय संलीनः। वही, पृ० 121
69. प्रशमरति प्रकरण, 9, का० 176 की टीका, पृ० 121
70. तत्वार्थसार, अ० 6, श्लोक 21, पृ० 180
71. ध्यानमेकाग्रचिन्ता निरोधं लक्षणं। वही, 5, का 59 की टीका, पृ०42

72. तत्रात्तरोद्रेपिचतुर्विधम्। वही, 9, का 176 को टीका, पृ० 121
73. शतमिति दुःख संक्लेशः, तत्र भवमार्तमिति। वही, 1, का० 20 की टीका, पृ० 17
74. वही, 9, का० 176 की टीका, पृ० 121
75. रुद्र कूरो नृशंसः, तस्यैद रौद्रम। वही, I, का० 20 की टीका, पृ० 42
76. यदपि चतुर्धा। - प्रशमरति प्रकरण, I, का 20 की टीका, पृ० 17
77. धर्मोदनपेतं धर्म्यं। वही, 9, का० 176 की टीका, पृ० 121
78. आज्ञापाय विपाक संस्थान विचय भेदाच्चतुर्विधम्। वही, 5, का० 59 की टीका, पृ० 42
79. आप्तवचनं प्रवचनं चाज्ञा विचयस्तदर्थ निर्णयनम्। वही, 17, का० 247, पृ० 172
80. आस्रव विकथा गौरव परीषहाद्येष्वपायस्तु। प्रशमरति प्रकरण, 17, का० 248, पृ० 172
81. वही, 17, का० 149, पृ० 173
82. वही, पृ० 173
83. द्रव्य क्षेत्राकृत्यनुगमनं संस्थान विचयस्तु। वही, 17, का० 249, पृ० 173
84. वही, पृ० 173
85. वही, 18, का० 250-258, पृ० 173-177
86. शत् शोको .... तल्लुनाति विच्छेदयतीति शुक्लम्। प्रशमरति प्रकरण, 9, का० 176 की टीका, पृ० 122
87. शुक्लमव्यत्यन्त विशुद्धा। वही, 5, का, 59 की टीका, पृ० 42
88. तच्चर्विधम् .... व्युपरतक्रियमनुवर्त्तनम्। प्रशमरति प्रकरण, 1, का० 196 की टीका, पृ० 42
89. तत्वार्थसार, 7, श्लोक 45-50, पृ० 186-187
90. वही, पृ० 186-187
91. प्रशमरति प्रकरण, 20, का० 280, पृ० 194
92. विगतक्रियममनिवर्तित्वमुत्तरं ध्यायति परेण। वही, पृ० 194
93. शुक्लध्यानावद्वयमवाप्य मोहम्। वही, 18, का० 259, पृ० 177
94. सिद्धि क्षेत्रे विमले............ साकारेणोपयोगेन। प्रशमरति प्रकरण, 21, का० 288, पृ० 198।
95. वही, 9, का 176 की टीका, पृ० 122

96. विनयोज्ञानदर्शन .... स च विनयो। वही, 9, का० 169 की टीका, पृ० 116
97. सविनयः ज्ञानदर्शन चारित्रोपचार भेदः। वही, 9, का० 176, की टीका, पृ० 116
98. प्रशमरति प्रकरण, 9, का० 176 की टीका, पृ० 122
99. स्वाध्याय पंचधा-वाचना पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नायः धर्मोपदेशाय। वही, पृ० 122
100. प्रशमरति प्रकरण, 9, का० 176 की टीका, पृ० 122
101. ब्रह्म अब्रह्मणो .... निवृत्तिरित्यर्थः।
102. दिव्यात्कामरति .... तद्ब्रह्माष्टादश विकल्पम्। वही, 9, का० 177, पृ० 123।
103. आकिंचनस्य भाव आकिंचन्यं निष्परिग्रहता। प्रशमरति प्रकरण, 8, का० 167, पृ०।
104. अध्यात्मविदो .... परोधर्मः। वही, 9, का० 178, पृ० 123
105. वही, 9, का० 179, पृ० 124
106. वही, 9, का० 180, पृ० 124,
107. तत्वार्थसार, 4, श्लोक 60-61, पृ० 123-124
108. प्रशमरति प्रकरण, 5, का० 62 की टीका, पृ० 43
109. प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं प्राणबधः। वही, 5, का० 60, की टीका, पृ०42।
110. प्रमादश्च .... विकथाख्य पंचधा। वही, 8, का० 157, पृ० 108
111. वही, 5, का० 62 की टीका, पृ० 43
112. जिह्वावाक् सद्भूतनिह्नवा ....कटुक पुरुष सावधादि। प्रशमरति प्रकरण, 9, का० 174 की टीका, पृ० 120
113. अनृतभाषणं .... इति लुब्धकायाचष्टे। वही, 5, का० 60 की टीका, पृ० 42।
114. वही, 5, का० 62 की टीका, पृ० 43
115. चौर्यबुद्धया परस्वमात्मसात्करोति पर धन हरणम्। प्रशमरति प्रकरण, 5, का० 60 की टीका, पृ० 42
116. वही, 5, का० 62 की टीका, पृ० 43
117. मिथुनस्य भावो मैथुनं स्त्रीपुंनपुंसक वेदोदयादा सेवनम्। वही, 5, का० 60 की टीका, पृ० 42
118. ममत्वलक्षणं परिग्रहः .... मूर्छा परिग्रह इति। प्रशमरति प्रकरण, 5, का० 60 की टीका, पृ० 42

119. निशिभोजनं तु परिग्रहलक्षणे .... चानतार्भावविवतम्। वही, पृ० 42

120. वही, 5, का० 62, की टीका, पृ० 42

121. प्रशमरति प्रकरण, 15, का० 244, पृ० 169

122. वही, 16, का० 245 की टीका, पृ० 169-70

123. शीलांग सहस्त्राष्टादशकम् यत्नेन साधयति । वही, 15, का० 244, पृ० 169

124. वही, 17, का० 250-255, पृ० 173-175

125. वही, 18, का० 256, पृ० 176126 ।

126. वही, 18, का० 158, पृ० 177

127. वही, 18, का० 259, पृ० 177

128. वही, 18, का० 260-262, पृ० 178-79

129. सर्वोद्घातितमोहो .... पूर्णचन्द्र इव। प्रशमरति प्रकरण, 18, का० 159, पृ० 177

130. वही, 18, का० 260-262, पृ० 178-79

131. क्षीण चतुः कर्मांशो .... पूर्व कोटिंवा। वही, 18, का० 271, पृ० 185

132. तेनाभिन्नं .... नाम गो च। वही, 18, का० 272, पृ० 272, पृ० 186।

133. समुद्घाता निवृत्तोथ .... मुनि स्येति। प्रशमरति प्रकरण, 19, का० 227, पृ० 189

134. वही, 20, का० 280, पृ० 194

135. वही, 20, का० 281, पृ० 194

136. वही, 21, का० 289, पृ०194

137. वही, 21, का० 291, पृ० 201

138. वही, 21, का० 292-293, पृ० 202

139. पूर्वप्रयोगस्तृतीये शुक्लध्याने ....तस्मादूर्ध्वमेव गच्छति मुक्तारमेति प्रशमरति प्रकरण, 21, का 294 की टीका, पृ० 203।

140. सोधर्मादिष्वन्यतमकेषु .... महार्द्धिधुतिवपुष्कः वही, 21, का० 298, पृ० 205

141. वही, 22, का० 299-301, पृ० 206-207

142. स एवं सुख परंपरयो सिद्धि मेष्यति। अष्टानां भवानाभर्वागम्यन्तरे नियमेनेवेति । -

प्रशमरति प्रकरण, 22, का० 308 की टीका, पृ० 210

143. वही, 22, का० 302 की टीका, पृ० 208

144. स्थूलात् प्राणात्पाताद्विरतिः प्रथममणव्रतम। स्थूला वादरा प्राणिनो............प्रथमणुव्रत। प्रशमरति प्रकरण, 22, का० 303 की टीका, पृ० 208

145. स्थूलमन्ततं ..... तस्माद्विरति न परिहासादि भाषणातां। वही, 22, का० 303 की टीका, पृ० 208

146. चौर्यमदत्तस्यादानं स्थूलम्, यस्मिन्न पट्टले चौर्यमिति हृण्यपदिश्चते, तत्स्थूलम्। - प्रशमरति प्रकरण, 22, का० 303, पृ० 208.

147. तस्माद्विरतिः। परदार निवृत्ति व्रतस्य तु पर परिगृहीत स्त्री परिहारः, न तु वैश्या परिहारः। वही, 22, की टीका, पृ०

148. सततं सर्वदा रतिर्विषयेषु प्रीतिः, अरतिरुद्वेगो .... तस्माद्विकरतिरणुव्रतम्। प्रशमरति प्रकरण, 22, का० 303, पृ० 208

149. दिग्व्रतं ...... चतुर्मास्यादिषु स गृहनति । वही, 22, का० 303, पृ० 208

150. तथा देशावकाशिंक व्रतं प्रतिदिवसमध्ये एतावती मर्यादा........ कल्पयति देशावकाशिकं व्रतम्। प्रशमरति प्रकरण, 22, का० 303, पृ० 208

151. अनर्थदण्डविरतिव्रतम् .... तस्माद्विरतिर्व्रतम्। वही, पृ० 208

152. सामायिकं प्रतिक्रमणम्। वही, 22, का 304 की टीका, पृ० 208

153. तथा पोषधव्रतं कृत्वा ....अष्टमी पोर्णमास्यादिषु क्रियते।

154. उपभोग परिमाणव्रतमुपभोगः .... परिमाणत्वातः। वही, 22, का 304, की टीका, 208-209

155. तथाऽन्योऽतिथि संविभागः ....स्वयमिति। प्रशमरति प्रकरण, 22, का० 304 की टीका, पृ० 209।

156. चैत्यं चितयः प्रतिमा इत्येकार्यः.. संस्करण चित्र कर्माणि चेति। प्रशमरति प्रकरण, 22, का० 305, की टीका, पृ० 209

157. मारणान्तिक संलेखनाकाले .... दोष रहिता कृत्वेति सम्बन्ध्य । वही, 22, का० 306, पृ० 209

158. प्रशमरति प्रकरण, 22, का० 307-308, पृ० 210

159. (क) इत्येवं प्रशमरतेः फलमिह .... उत्तर गुणाठ्यैः। प्रशमरति प्रकरण, 22, का०

309, पृ० 213

(ख) शुभमिति वैषयिक स्वाभाविक........................ शेष संयमानुष्ठायिभिरिति
वही, 22, का० 309 की टीका, पृ० 213

चतुर्थ - अध्याय

जीव - बंध की प्रक्रिया एवं हेतु

जीव बंध प्रक्रिया का विवेचन करने के पूर्व यह बताना आवश्यक है कि जैन धर्म- दर्शन में इस प्रकार की मान्यता है कि यद्यपि जीव स्वभाव से शुद्ध-चेतन रुप है तो भी वह अनादि काल से कर्म रुपी मलों से उसी प्रकार युक्त है जिस प्रकार खान में पड़ा हुआ सोना किटकालिमादि से युक्त होता है। जीव को कर्मों से युक्त होने का नाम ही बंध है, क्योंकि कर्मबंध हो जाने पर जीव की स्वत्रंता उसी प्रकार नष्ट हो जाती है जिस प्रकार खूँटे से बंधे हुए पशु की। जीव के बंध-स्वरुपादि का जैन धर्म-दर्शन् में सूक्ष्म रुप से विस्तृत विवेचन हुआ है।

बंध का स्वरुप :

प्रशमरति प्रकरण में जीव-बंध की प्रक्रिया एवं हेतु पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया है। इसमें बंध के स्वरुप का कथन करते हुए बतलाया गया है कि कषाय युक्त जीव के द्वारा कर्मयोग्य पुद्गलों का ग्रहण करना बंध है [1]। आगे ग्रन्थकार ने बंध स्वरुप की व्याख्या करते हुए ज्ञानावरण आदि कर्मों के नाश न होने को या उनकी परम्परा के बराबर चलते रहने को बंध कहा है, क्योंकि पूर्व बंधे हुए कर्म ही नवीन कर्मों के बंध के कारण होते हैं। इसीसे कर्मों की संतान को बंध कहा गया है [2]।

बंध-भेद :

बंध के चार भेद हैं - (क) प्रकृति बंध (ख) स्थिति बंध (ग) अनुभव और (घ) प्रदेश बंध [3]।

प्रकृति बंध :

प्रशमरति प्रकरण में प्रकृति बंध के दो प्रकार बतलाये गये है- (1) मूल प्रकृति बंध (2) उत्तर प्रकृति बंध। ज्ञानावरण आदि अष्ट कर्म मूल प्रकृति बंध है। मूल कर्मों के भेद-प्रभेद उत्तर प्रकृति बंध हैं जिसके 122 भेद उल्लेखित हैं [4]।

स्थिति बंध :

स्थिति बंध दो प्रकार के होते हैं- (1) उत्कृष्ट स्थिति बंध (2) जघन्य स्थिति बंध[5] ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय का उत्कृष्ट स्थिति बंध तीस कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण होता है। मोहनीय का उत्कृष्ट स्थिति बंध कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण होता है। नाम और गोत्र का उत्कृष्ट स्थिति बंध बीस कीड़ा-कौड़ी सागर प्रमाण है। वेदनीय का जघन्य स्थिति बंध बारह मुहूर्त्त होता है। नाम और गोत्र का जघन्य स्थितिबंध आठ मुहूर्त्त होता है। शेष कर्मों का अन्तरमुहूर्त्त स्थिति है [6]।

अनुभाग बंध :

अनुभाग का अर्थ होता है शक्ति। प्रकृति में अनुभाग का अर्थ कर्मों की फल देने की शक्ति विशेष है। विपाक को अनुभाग बंध कहा गया है। शुभ-अशुभ कर्मों का जब बंध होता है, उसी समय उसमें रस विशेष भी जान पड़ता है। उस रस विशेष को विपाक कहते हैं। जब गति आदि स्थानों में कर्म का उदय होता है, तब वह विपाक अपने-अपने नाम के अनुसार होता है [7]। कषाय से अनुभाग बंध होता है और लेश्या की विशेषता से स्थिति और विपाक में विशेषता आती है [8]।

प्रदेश बंध :

बंध का चौथा भेद प्रदेश बंध है। प्रशमरति प्रकरण में इसके स्वरुप का कथन किया गया है तथा बतलाया गया है कि एक पुद्गल परमाणु जितना स्थान घेरता है, वह प्रदेश बंध है। उपचार से पुद्गल परमाणु भी प्रदेश कहलाता है। अतः पुद्गल कर्मों के प्रदेशों का जीव के प्रदेशों के साथ बंध होना, प्रदेश बंध कहलाता है। कर्म दलिकों के समूह को प्रदेश बंध कहा गया है। जिस प्रकार एक आत्म-प्रदेश में अनन्त दलिक रहते हैं।, उसी प्रकार अन्य कर्मों में भी अनन्त दलिक (प्रदेश) स्थित रहते हैं [9]।

कर्म बंध के कारण :

प्रशमरति प्रकरण के द्वितीय अधिकार मे कर्म-बंध का मूल कारण कषाय को माना गया है। कषाय के स्वरुप का कथन कर बतलाया गया है कि जिसमें जीव कर्षे उसे कष अर्थात् संसार कहते हैं और संसार के उपादान कारणों को कषाय कहते हैं [10]।

कषाय-भेद :

कषाय के दो भेद बतलाये गये हैं- (1) ममकार और (2) अहंकार। ममत्व भाव को ममकार और गर्व को अहंकार कहा गया है। राग-द्वेष को इन्हीं के नामान्तर बतलाये गये हैं[11]। ममकार का नाम राग और अहंकार का नाम द्वेष है। माया और लोभ कषाय के युगल नाम राग और क्रोध तथा मान का संयुक्त नाम द्वेष है। अर्थात् माया-लोभ को राग और मान

तथा क्रोध को द्वेष माना गया है [12]।

राग-पर्याय :

प्रशमरति प्रकरण में राग के पर्याय का कथन किया गया है तथा बतलाया गया है कि इच्छा, मूर्छा, काम, स्नेह, गार्ध्व, ममत्व, अभिनन्दन, अभिलाषा इत्यादि राग के अनेक पर्याय हैं [13]। सुन्दर स्त्री आदि में जो प्रीति होती है, उसे इच्छा कहते हैं। बाह्य वस्तुओं के साथ एकमेक होने रुप जो परिणाम होता हैं, उसे मूर्च्छा कहते हैं। इष्ट वस्तु की अभिलाषा को काम कहते हैं। विशिष्ट प्रेम आदि को स्नेह कहते हैं। अप्राप्त वस्तु की इच्छा करने को गार्ध्व कहते हैं। यह वस्तु मेरी है, इसका मै स्वामी हूँ, ऐसे मन के भाव को ममत्व कहते हैं। इष्ट वस्तु के मिलने पर जो सन्तोष होता है, उसे अभिनन्दन कहते हैं। इष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए जो मनोरथ है, उसे अभिलाषा कहते हैं [14]।

द्वेष-पर्याय :

प्रशमरति प्रकरण में द्वेष के पर्यायों का उल्लेख किया गया है तथा बतलाया गया है कि ईर्ष्या, रोष, दोष, द्वेष, परिवाद, मत्सर, असूया, वैर और प्रचण्ड आदि द्वेष के अनेक पर्याय है [15]। प्रशमरति प्रकरण के टीकाकार ने ईष्या आदि द्वेष के पर्यायों को परिभाषित किया है। उनके अनुसार दूसरों की सम्पत्ति आदि को देखकर मन में ऐसा भाव होता है कि उसकी यह सम्पत्ति नष्ट हो जाये, मेरे पास ही सम्पत्ति रहे, अन्य किसी के पास न रहे, इस भाव को ईर्ष्या कहते हैं। दूसरे का सौभाग्य, रुप और लोकप्रियता आदि को देखकर जो क्रोध उत्पन्न होता है, उसे रोष कहते हैं। जो दूषित करे, वह दोष है। प्रीति के न होने को द्वेष कहते हैं। दूसरे के दोषों का कहना परिवाद है। जो अपने को सच्चे धर्म से अलग क. वह मत्सर है। दूसरों के गुणों को न सह सकना असूया है। आपस में मार-पीट होने से उत्पन्न हुए क्रोध से जो भाव पैदा होता है, वह वैर है। अत्यन्त तीव्र गुस्से को अर्थात् शान्त हुई कोपाग्नि को भड़काना प्रचण्ड है [16]।

उक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि कषाय के कुल चार भेद हैं- क्रोध, मान, माया और लाभ। ये चारों अत्यंत दुर्जेय हैं [17]। इनका विस्तार से वर्णन प्रशमरति प्रकरण में इस प्रकार किया गया है :

क्रोध कषाय :

मोह कर्म के उदय से उत्पन्न हुए आत्मा के क्रोध करने रुप परिणाम को क्रोध कषाय कहते हैं [18]। क्रोध प्रीति नाशक, परितापक, भयावह, वैर-उत्पादक एवं मोक्ष का घातक है[19]। यह इहलोक एवं परलोक दोनों में हानिकारक है [20]।

मान कषाय :

मैं ही ज्ञानी, दानी, शूरवीर हूँ, इत्यादि रुप आत्म परिणाम को मान कहते हैं। इसे घमंड भी कहा जाता हैं। मान, श्रुत, शील और धर्ममूल विनय के दूषण रुप तथा धर्म, और काम के विघ्न रुप हैं[21]।

माया कषाय :

किसी वस्तु में ममत्व भाव माया है। यह विश्वास घातक सर्प की तरह है[22]।

लोभ कषाय :

तृष्णा को लोभ कहते हैं। यह विनाश का आधार हैं। यह समस्त व्यसनों का राजमार्ग है, जिस पर चलनेवाला मनुष्य अत्यन्त दुःखदायी होता है[23]।

इस प्रकार दुःखों के कारणभूत क्रोध, मान, माया और लोभ भयानक संसार के मार्ग प्रवर्त्तक हैं। तात्पर्य यह है कि हिंसा, झूठ आदि पापों को करना संसार का मार्ग है और कषाय के वशीभूत प्राणि इन पापों को करता है। अतः कषाय संसार को बढ़ाने वाला है[24]।

प्रशमरति प्रकरण के दूसरे अधिकार में कर्म-बंध के अन्य हेतुओं- मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और योग का वर्णन किया गया है तथा मिथ्यात्व आदि को राग-द्वेष की सेना माना गया है। इनका विस्तारपूर्वक वर्णन निम्न प्रकार प्रस्तुत किया गया है[25] :

मिथ्यादर्शन :

मिथ्या दर्शन का अर्थ विपरीत श्रद्धान् होता है। दूसरे शब्दों में, सम्यक् दर्शन के विपरीत भाववाला मिथ्यादर्शन होता है। सम्यक् दर्शन से तत्वों का पर्याय श्रद्धान् होता है। परन्तु मिथ्यादर्शन के कारण तत्वों का यथार्थ श्रद्धान् नहीं होता है[26]।

अविरति :

विरति का अभाव अविरति है। हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य, परिग्रह से विरत होना विरति है और इन पाँच पापों को नहीं छोड़ना अविरति है[27]।

प्रमाद :

प्रमाद का अर्थ है- उत्कृष्ट रुप से आलस्य का होना। निद्रा और स्नेह की अपेक्षा से प्रमाद पाँच प्रकार का होता है[28]। विषय, इन्द्रिय, निद्रा और विकथा[29] की अपेक्षा से प्रमाद के चार भेद बतलाये गये हैं[30]।

योग :

मन, वचन और काय के द्वारा होने वाले आत्म-प्रदेशों का परिस्पन्दन को योग कहते हैं [31]। मन-वचन और काय की अपेक्षा से योग के तीन भेद हैं[32]।

इस प्रकार बंध के चार भेदों में से प्रदेश बंध योग से होता है। अर्थात् मन-वचन-काय योग के कारण आत्मा के प्रदेशों में ज्ञानावरण आदि पुद्गल कर्मों का संचय होता है और कषाय के कारण उन बंधे हुए कर्मों का अनुभवन (विपाक) होता है तथा जिस प्रकार की लेश्या होती है। उसी प्रकार का उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य स्थिति बंध होता है। तद्नुसार ही उसमें रस शक्ति पड़ती है [33]।

प्रशमरति प्रकरण में कर्म बंध की स्थिति को दृढ़ करनेवाली क्रियाओं का कथन करते हुए बतलाया गया है कि लेश्या कर्म बंध की स्थिति को उसी प्रकार दृढ़ करनेवाली होती है जिस प्रकार सरेस द्वारा रंग पक्का एवं स्थायी हो जाता है[34]।

लेश्या का स्वरुप :

प्रशमरति प्रकरण में परिणाम विशेष को लेश्या कहा गया है,[35] क्योंकि शरीर और वचन का व्यपार मन के परिणाम की अपेक्षा से तीव्र होता है तथा तीव्र होने से अशुभ होता है। आशय यह है कि लेश्या मन में होने वाले भावों की दशा का नाम है। किन्तु अन्य आचार्य कायिक और वाचनिक क्रिया को भी लेश्या कहते हैं। उनका कहना है कि मनुष्य जब कुछ करता या बोलता है, तब उसके करने या बोलने में मन के भावों की ही मुख्यता रहती है। मन में यदि क्रोध होता है, तो उसकी शारीरिक क्रिया और वाचनिक क्रिया में बराबर उसका असर पाया जाता है। अतः योग परिणाम को लेश्या[36] कहते हैं। जिस प्रकार दिवार आदि पर चित्रों को स्थायी बनाने के लिए रंगों में सरेस डालने से रंग पक्का एवं स्थायी हो जाता है, उसी प्रकार ये लेश्यायें कर्म बंध की स्थिति को पक्का व स्थायी करती हैं[37]।

लेश्या के भेद :

प्रशमरति प्रकरण में लेश्या के छह भेद बतलाये गये हैं - कृष्ण,नील, कापोत, तैजस, पद्म और शुक्ल[38]। इन लेश्याओं में से कृष्ण, नील और कपोत लेश्या रुप तीव्र परिणामों से कर्मों की स्थिति अति दीर्घ और दुःखदेने वाली होती है, तथा तैजस, पद्म और शुक्ल लेश्या से शुभ कर्मों की स्थिति अधिक शुभ फलदायी होती है। ये तीनों लेश्याएं उतरोत्तर विशुद्धतम होती हैं [39]।

इस प्रकार उक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और योग कर्म हेतु में सहायक हैं। इनकी सहायता से राग-द्वेष आठ प्रकार के कर्मबन्ध के करण होते हैं[40]। रागादि और कर्म बन्ध का परस्पर में निमित नैमित्तिक संबंध है। अर्थात् रागादि से कर्मबंध

होता हैं और कर्मबंध से रागादिक परिणाम होते हैं। अतः कर्म बंध का मूल कारण राग-द्वेष ही है [41]।

कर्म-भेद :

प्रशमरति प्रकरण में मूल कर्मबन्ध के आठ भेद बतलाये गये हैं- ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय [42]।

ज्ञानावरण कर्म :

कर्म का पहला भेद ज्ञानावरण कर्म है। ज्ञानावरण का सामान्य अर्थ होता है- ज्ञान पर आवरण। प्रशमरति प्रकरण में इसके स्वरुप का कथन किया गया है और बतलाया गया है कि जो कर्म क्षायोपशमिक और क्षायिक ज्ञान को ढ़ँकता है, यह ज्ञानावरण कर्म है[43]। ज्ञानावरण कर्म की पांच उत्तर प्रकृतियाँ हैं- मति ज्ञानावरण, श्रुतज्ञानावरण, अवधिज्ञानावरण, मनः पर्यय ज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण [44]।

दर्शनावरण कर्म :

कर्म का दूसरा भेद दर्शनावरण कर्म है। दर्शनावरण कर्म का समान्य अर्थ है - दर्शन पर आवरण। प्रशमरति प्रकरण में दर्शनावरण के स्वरुप का कथन करते हुए बतलाया गया है कि जो कर्म चक्षुदर्शनादि को आच्छादित करता है, वह दर्शनावरण है [45]।

दर्शनावरण की उत्तर प्रकृतियाँ नौ हैं जो निम्न प्रकार हैं चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचला-प्रचला और स्त्यानगृद्धि[46]।

वेदनीय कर्म :

कर्म का तीसरा भेद वेदनीय कर्म है। वेदनीय का सामान्य अर्थ है- सुख-दुःख का अनुभव करना। प्रशमरति प्रकरण में वेदनीय कर्म के स्वरुप का उल्लेख हुआ है तथा बतलाया गया है कि जो कर्म सुख और दुःख का अनुभव करता है, वह वेदनीय है [47]।

वेदनीय दो प्रकार के हैं - (1) साता और (2) असाता [48]।

मोहनीय कम :

कर्म का चौथा भेद मोहनीय कर्म है। मोहनीय कर्म आठ कर्मों में प्रधान है, क्योंकि यही संसार रुपी वृक्ष का बीज है [49]। प्रशमरति प्रकरण में मोहनीय कर्म के स्वरुप का कथन करते हुए बतलाया गया है कि जिस कर्म के उदय से जीव मोहा जाता है, वह मोहनीय कर्म है[50]।

मोहनीय कर्म के दो मूल भेद हैं- दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। इनमें दर्शन मोहनीय कर्म प्रबल हैं।

दर्शनमोहनीय कर्म के तीन भेद हैं- (१) मिथ्यात्व (२) सम्यकमिथ्यात्व (३) सम्यकत्व मोहनीय। सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के दलिक ही विशुद्ध होने पर सम्यक्त्व कहे जाते हैं तथा उसी मिथ्यात्व के विशुद्ध दलों को सम्यक मिथ्यात्व कहते हैं। इनके तीन भेदों में मिथ्यात्व दर्शन मोहनीय कर्म ही बलवान हैं, क्योंकि इसके रहने से मोहनीय कर्म प्रबल रहता है [51]।

चारित्र मोहनीय कर्म के पच्चीस[52] भेद हैं- अनन्तानुबन्धी, क्रोध-माया-मान-लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभ, संज्वलन क्रोध-मान-माया-लोभ, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, पुंवेद, स्त्रीवेद और नपुंसक वेद। इस प्रकार मोहनीय कर्म की अट्ठाईस उत्तर प्रकृतियां हैं [53]।

आयु कर्म :

कर्म का पांचवा भेद आयु कर्म है। प्रशमरति प्रकरण में आयु कर्म के स्वरुप का कथन किया गया है और बतलाया गया है कि जिस कर्म के उदय से जीव जीता है या प्राणों को धारण करता है, वह आयु कर्म है [54]। अर्थात् किसी विवक्षित शरीर में जीव की रहने की अवधि को आयु कर्म कहते हैं।

आयु की उत्तर प्रकृतियाँ चार हैं - नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु [55]।

नाम कर्म :

कर्म का छठवां भेद नाम कर्म है। प्रशमरति प्रकरण में नाम कर्म के स्वरुप का कथन कर बतलाया गया है कि जिस कर्म के उदय से गति-जाति आदि की प्राप्ति होती है, उसे नाम कर्म कहते हैं [56]।

नाम कर्म की उत्तर प्रकृतियां बयालीस बतलायी गयी है जो निम्नवत् हैं - गति, जाति, शरीर, अंगोपांग, निर्माण, बन्धन, संस्थान, संघात, संहनन, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, आनुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छवास, विहायोगति, प्रत्येक शरीर, साधारण शरीर, त्रस, स्थावर, शुभ, अशुभ, सुभग, दुर्भग, दुःस्वर, सूक्ष्म, वादर, पर्याप्ति, अपर्याप्ति, स्थिर, अस्थिर, अनादेय, आदेय, यश, अयश और तीर्थंकर नाम।

गोत्र कर्म :

कर्म का सांतवा भेद गोत्र कर्म है। इस कर्म की परिभाषा प्रशमरति में दी गयी है और बतलाया गया है कि जिस कर्म के उदय से जीव उँच-नीच कुल में उत्पन्न होता है, उसे गोत्र कर्म कहते हैं [57]। गोत्र कर्म के दो भेद हैं[58]- (क) उच्च गोत्रकर्म (ख) नीच गोत्रकर्म।

(क) उच्च गोत्र कर्म :

जिस कर्म के उदय से विशिष्ट जाति तथा ऐश्वर्य आदि प्राप्त होता है, वह उच्च गोत्र कर्म है।

(ख) नीच गोत्र :

जिस कर्म के उदय से निदिंत कुल में जन्म होता है, वह नीच गोत्र कर्म है[59]।

अन्तराय कर्म :

कर्म का आठवाँ भेद अन्तराय कर्म है। यहाँ अन्तराय का अर्थविघ्न उत्पन्न करना। प्रशमरति प्रकरण में अन्तराय कर्म का स्वरुप का उल्लेख कर बतलाया गया है कि जिस कर्म के उदय से दान लाभ आदि में विघ्न उत्पन्न होता है, उसे अन्तराय कर्म कहते हैं [60]।

अन्तराय कर्म की उत्तर प्रकृतियां पांच हैं- दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय [61]।

इस प्रकार इन आठ कर्मों की उत्तर प्रकृतियाँ संतानवे होती हैं। नाम कर्म की उत्तर प्रकृतियों के भेदों को मिलाने से, जैसे गति के चार भेद हैं, सरसठ नाम कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ और शेष कर्मों की उत्तर प्रकृतियां पचपन एक सौ बाईस उत्तर प्रकृतियाँ होती हैं। उनमें से बन्ध एक सौ बीस ही प्रकृतियों का होता है [62]।

पूर्वोक्त प्रकार से उत्तर प्रकृतियों के एक सौ बाईस भेद बतलाये गये हैं। स्थितिबन्ध, अनुभाग बन्ध और प्रदेश बंध की अपेक्षा वह प्रकृति बन्ध तीव्र, मन्द अथवा मध्यम होता है तथा उसका उदय भी तीव्र, मन्द अथवा मध्यम होता है। तीव्र परिणामों से तीव्र प्रकृति बंध होता है और मध्यम परिणामों में विशेषता होने से उदय में भी विशेषता होती है। आशय यह है कि जब प्रकृति की उत्कृष्ट स्थिति होती है[63] तब उसका अनुभव और प्रदेश बन्ध भी उत्कृष्ट होता है और उससे उस उत्कृष्ट स्थिति में बन्ध और उदय दोनों तीव्र होते हैं। इसी प्रकार जब प्रकृति की स्थिति जघन्य होती है, तो अनुभव और प्रदेश भी जघन्य होते हैं तथा उससे स्थिति का बन्ध-उदय मन्द होता है। इसी तरह मध्यम भी होता है।

जीव-कर्म-सम्बन्ध :

जीव और कर्म का अपना स्वतंत्र स्वरुप एवं अस्तित्व है, तथापि आत्मा और कर्म का परस्पर में सम्बन्ध है। इनका यह सम्बन्ध धन और धनी जैसे तात्कालिक नहीं है, बल्कि सोना और किट्टकालिमा की तरह अनादि कालीन है [64]।

बन्ध के विश्लेषण में बतलाया गया है कि राग, द्वेष और मोह के कारण कर्मरुपी रज आत्म-प्रदेशों में चिपक जाती है। कहा भी गया है कि संसारी जीव के राग-द्वेष रुप परिणाम

होते हैं और रागादि परिणामों से नवीन कर्मों का बन्ध होता है और इन नवीन कर्मों के कारण उसे नरकादि चार गतियों में भ्रमण करना पड़ता है। इन गतियों में जीव के जन्म ग्रहण करने पर उससे शरीर, शरीर से इन्द्रियाँ और इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण और विषयों के ग्रहण से राग-द्वेष परिणाम होते हैं और पुनः उन राग-द्वेष से कर्मों का बन्ध होता है।[65] इस प्रकार राग-द्वेष ही कर्मबन्ध के प्रमुख कारण हैं, इनसे कर्मों का प्रवाह बना रहता है। ममकार और अहंकार ही राग द्वेष है। राग-द्वेष को मिथ्यादर्शन मोहनीय कर्म रुप राजा का सेनापति बतलाया गया है, क्योंकि इन्हीं से कषाय और नोकषाय उत्पन्न होता है।[66] प्रशमरति प्रकरण के कर्त्ता आचार्य उमास्वाति ने राग-द्वेष रुप कषाय को तेल की तरह चिकना मानकर दृष्टांत द्वारा सिद्ध किया है कि रागादि-रुप-स्निग्धता ही कर्म रुप रज के आत्मा-प्रदेशों मे चिपकने का प्रमुख कारण है [67]।

आत्मा और कर्म में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध :

रागादि से कर्मबंध होता है और कर्मबंध रागादिक परिणाम होते हैं। इसलिए आत्मा और कर्म में अनादिकाल से निमित्त नैमित्तिक संबंध है [68]।इन दोनों में जो कमजोर होता है, उसे बलवान् अपने अनुकूल कर लेता है।

जीव और कर्म में निमित्त-नैमित्तिक संबंध होने से इतरेतराश्रय नामक दोष भी नहीं आता हैं, क्योंकि वे परस्पर में एक दूसरे पर आश्रित नहीं हैं। आत्मा के साथ कर्म अनादिकाल से सम्बद्ध है। अतः उसी पूर्वबद्ध कर्म के कारण नवीन कर्म आते हैं [69]।नवीन कर्मों के उदय से जीव को नरकादिक गतियों में जाना पड़ता है। परकादिक गतियों में जाने से शरीर बनता है और इसमें इन्द्रियाँ होती हैं जिनमें विषय को ग्रहण करने की शक्ति होती है और विषय-ग्रहण करने से सुख-दुःख होते हैं [70]।

मोह से अन्धा हुआ जीव अच्छे-बुरे का विचार न करके सुख की प्राप्ति के लिए जो भी काम करता है, वह उसके दुःख के ही कारण होते हैं[71]। जैसे जो मनुष्य स्पर्शेन्द्रिय के विषय में आसक्त है, वह प्रिया के शरीर आलिंगन से पागल हुए मूर्ख हाथी के समान बन्ध को प्राप्त होता है और जो मनुष्य रसनेन्द्रिय के विषयों में आसक्त है, वह लोहे के यंत्र या जाल में फँसे हुए मीन के समान नाश को प्राप्त होता है। जिस प्रकार धीवर लोहे के काँटे को जल में डालता है और उसमें लगे हुए मांस के खाने के लोभ में आकर मछली मृत्यु के मुख में चली जाती है, उसी प्रकार रसना इन्द्रिय के विषयों के लोभ में पड़कर यह प्राणी भी विपत्ति में फँस जाता है [72]।

जो मनुष्य घ्राणेन्द्रिय के विषय में आसक्त होकर पागल हो जाता है, वह भौंरे के समान मृत्यु को प्राप्त होता है। जिस प्रकार भौंरा कमल की सुगन्ध से आकृष्ट होकर उसके भीतर बैठकर उसकी गन्ध लिया करता है जब सूर्य डूब जाता है तो कमल बंद हो जाता है और उसके बन्द होते ही भौंरा भी उसके अन्दर बंद हो जाता है जिससे वह मृत्यु को प्राप्त होता

है ठीक उसी प्रकार की स्थिति घ्राणेन्द्रिय के विषय में आसक्त रहने वाले मनुष्यों की होती है [73]। वह मनुष्य जो मद भरी हँसी तथा कटाक्ष से पागल हो जाता है, स्त्री के रुप पर आसक्त होकर पतंग की तरह विपत्ति का शिकार बनता है [74]। वही मनुष्य जब श्रोत्रेन्द्रिय में आसक्त होता है, तो वह हिरन की तरह विनाश-लीला को प्राप्त होता है। जिस प्रकार हिरन वन में शिकारी के संगीत-ध्वनि में आसक्त होकर अपना सर्वनाश कर बैठता है, उसी प्रकार गायकों आदि के मनोहारी शब्दों को सुनकर मनुष्य कर्णेन्द्रिय के विषय में फँसकर वह अपना सब कुछ नाश करता है [75]।

इस प्रकार इन्द्रिय सुख क्षणिक है जिसके बार-बार सेवन करने पर सर्वदा तृप्ति नहीं होती है, क्योंकि ये इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में एक रस नहीं हैं [76]। परिणाम वश इष्ट विषय अनिष्ट लगने लगता है और अनिष्ट विषय भी इष्ट लगने लगता है[77]। जीव प्रयोजन के अनुसार व्यपार करता है। इस तरह जैसा प्रयोजन होता है, उसके अनुसार व्यापार करता है। इस तरह जैसा प्रयोजन होता है, उसके अनुसार जीव इष्ट अथवा अनिष्ट की कल्पना कर लेते हैं।[78] परन्तु ये विषय इष्ट और अनिष्ट नहीं हैं। मनुष्य अपनी राग-द्वेषमयी परिणति के कारण अपने प्रयोजन के अनुसार उनमें इष्ट या अनिष्ट भाव रखते हैं। यदि यह विषय ही इष्ट अथवा अनिष्ट होता तो जो विषय एक मनुष्य को इष्ट होता, वह सबके लिए इष्ट ही होता और जो एक को अनिष्ट होता वह सबके लिए भी अनिष्ट ही होता। परन्तु, लोक ऐसा दृष्टिगत नहीं होता है। एक पदार्थ में भी दो मनुष्य अपने-अपने प्रयोजन के अनुसार इष्ट और अनिष्ट की कल्पना किया करते हैं[79]।

इस प्रकार यह कटु सत्य है कि राग-द्वेष से युक्त जीव को केवल कर्मबंध ही होता है जिसके कारण इसका संसार-वास हल्का नहीं हो पाता। इस राग द्वेष की पूर्ण परिणति से उसका तनिक भी कल्याण नहीं होता है[80]। केवल इससे राग-द्वेष आदि परिणाम उत्पन्न होते रहते हैं। इस प्रकार जीव-बन्ध का चक्र चलता रहता है।

ग्रन्थकार ने संसार भ्रमण चक्र को कारण निर्देश सहित निरुपित किया है[81] तथा बतलाया है कि संसारस्थ अशुद्ध जीव का अशुद्ध परिणाम होता है, उस राग-द्वेष मोह जनित अशुद्ध परिणामों से आठ प्रकार का कर्मबन्ध होता है, पुद्गलमय बंधे हुए कर्मों से मनुष्यादि गतियों में गमन होता है। मनुष्यादि गति में प्राप्त होनेवाले औदारिक आदि शरीर का जन्म होता है। शरीर होने से इन्द्रियों की रचना होती है, इन्द्रियों से रुप रसादि विषयों का ग्रहण होता है अथवा इष्टानिष्ट पदार्थों में राग-द्वेष उत्पन्न होता है। तत्पश्चात् पूर्वकर्मानुसार कर्मादि उत्पन्न होते रहते हैं। इस प्रकार जीव का संसार रुपी चक्रवात में भव परिणमन होता रहता है। यह भव भ्रमण अभव्य जीवों के लिए आनादि अनन्त है[82]। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि जीव और कर्म का सम्बन्ध सोना और किट्टकालिमा की तरह अनादिकालीन है और उनमें राग-द्वेष, जीव बंध की प्रक्रिया में प्रमुख हेतु है ।

सन्दर्भ-सूची

1. सकषायत्वाजीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलान् आदत्ते स बन्धः।

2. कर्मसन्तर्तिबंध .... कर्मोपादानमात्मन इत्यर्यः। वही, 14, का० 221, पृ० 155

3. प्रकृतिरियमनेक विधा .... बंधोदय विशेषः। वही, 4, का० 36, पृ० 28

4. ज्ञानावरणस्योत्तर प्रकृति भेदाः............द्विचत्वारिंशद, भवन्ति। प्रशमरति प्रकरण, 3, का० 35 की टीका, पृ० 27

5. वही, 4, का० 36, पृ० 28

6. तत्र स्थिति बंधो ज्ञानदर्शनावरण वेदान्तरायाणां .... शेष कर्मणामन्र्तमुहूर्त स्थितिः। वही, 4, का० 36 की टीका, पृ० 28

7. अनुभाग बंधोविपाकाख्यः। .... विपच्चमानोयनुभूयते। वही, 4, का० 36 की टीका, पृ० 28

8. अनुभवनं कषाय व शात्। स्थितिपाक विशेषस्तस्य भवति लेश्या विशेषणा। वही, 4, का० 37, पृ० 29

9. प्रदेश बन्धस्तु........... शेष कर्मणामपीति। वही, 4, का० 36 को टीका, पृ० 28

10. कष्यन्तऽस्मिन जीवा इति कषः संसारः सत्य आया उपादान कारणानि इति कषायः। वही, 1, का० 17 की टीका, पृ० 15

11. (क) ममकाराहंकारावेषां मूलं पद द्वयं भवति। राग द्वेषावित्यापि तस्मैवान्यस्तु पर्यायः। प्रशमरति प्रकरण, 2, का० 31, पृ० 24

12. मायालोभकषाय .... समासनिर्दिष्टः। वही, 2, का० 32, पृ० 25

13. इच्छा-मूर्च्छाः........... रागपर्यायवचनानि। वही, 1, का० 18 , पृ० 15

14. इच्छा-प्रीतिः .... स रागः। वही, 1, का० 18 की टीका, पृ० 16

15. ईर्ष्या रोषो .... द्वेषस्यर्यायाः। प्रशमरति प्रकरण, 1, का० 19 पृ० 17

16. परविभववादिदर्शन्माच्वित परिणामो जाय ते। .... एवमाथा वहवोन्येडऽपि द्वेष पर्यायाः। वही, 1, का० 19, की टीका, पृ० 16
17. सक्रोध मान मायालोभैरति दुर्जयैः परामृष्टः। वही, 2, का० 24, पृ० 19
18. कोधनं क्रोधः आत्मनः परिणामो मोहकर्मोदय जनितः। प्रशमरति प्रकरण, 2, का० 25 की टीका, पृ० 20
19. क्रोधः परितापकरः ....क्रोधसुगतिहन्ता। वही, 2, का, 26, पृ० 21
20. तत्मादिह परलोकयोरपायकारी क्रोध इति। वही, 2, का० 26 की टीका, पृ० 21
21. श्रुतशील विनय संदूषणस्य ....पण्तिध्योदयात्। वही, 2, का, 27, पृ० 21
22. मायाशीलः पुरुषो........ तथाप्यात्मदोषहतः। वही, 2, का० 28, पृ०22।
23. सर्वविनाशाश्रयिणः........दुःखान्तरमुपेयात्। वही, 2, का० 29, पृ० 23।
24. एवं क्रोधो .... भवसंसारदुर्गमार्गप्रणेतारः। वही, 2, का० 30, पृ०24।
25. मिथ्यादृष्टय विरमणप्रमादयोगास्तयोर्बलंदृष्टम्। वही, 2, का० 33, पृ० 25
26. मिथ्यादर्शनंमिथ्यादृष्टिः........... तत्वार्थाश्रद्धानतक्षणम्। वही, 2,का० ३३ की टीका, पृ० २५
27. प्रशमरति प्रकरण, का० 33 की टीका, पृ० 25
28. अविरमणमविरतिः अनिवृतिः पापाश्यात्। वही, पृ० 25
29. निद्राविषयकषायविकटविकथाख्यःपंचधा। प्रशमरति प्रकरण, ८, का० १५७ की टीका, पृ० 108
30. विषवैन्द्रियनिद्रा विकथाक्ष्यः चतुर्विध प्रमादः। वही, 2, का० 33 की टीका, पृ० 25
31. सर्वार्थसिद्धि, 2, 26, पृ० 183
32. मनोवावकाख्या योगाः। वही, 2, 33 की टीका, पृ० 25
33. तत्रप्रदेश बंधो योगात्तदनुभवनं .... लेश्या विशेषण। वही, 4, का० 37, पृ० 29
34. श्लेषड़व वर्णबंधस्य कर्मबंधस्थिति विधात्रयः। वही, 4, का० 38, पृ० 30
35. योगपरिणमो लैश्य। प्रशमरति प्रकरण, 4, 38 की टीका० पृ० 30
36. कषाय से रंगी हुई योग प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं।
37. मनसः परिणाम भेदाः........ श्लेषो वर्णानांन्थे दृढ़ीकरणम्। वही, 4, का० 38 की टीका, पृ० 34
38. ताः कृष्णनीलकापोत तैजसी पद्म शुक्ल नामानः। वही, 4, का० 38, पृ० 30

39. एवमता लेश्याः कर्मबन्धस्थितिविधात्रयः। तीव्र परिणामाः स्थिति...... उत्तररोत्तरा भवन्तीति। प्रशमरति प्रकरण, 4, का० 38 की टीका, पृ० 30।

40. मिथ्यादृष्ट्यविरमण..... कर्मबन्धस्य हेतू तौ। वही, 4, का० 33, पृ० 25

41. तस्माद्रागद्वेषादयस्तु भव संततेर्मूलम्। वही, 5, का० 56-57, पृ० 4

42. वही, 3, का 34, पृ० 26

43. क्षयोपशमजं क्षायिकं .... तज्ज्ञानावरणम् वही, 3, का० 34 की टीका, पृ० 26

44. वही, 3, का० 35 की टीका, पृ० 27

45. चक्षुर्दर्शनाधावियते येन कर्मणा तद् दर्शनावरणम्। प्रशमरति प्रकरण, 3, का० 34, पृ० 26

46. दर्शनावरणस्योत्तर .... पंचकंध। वही, 3, का० 35 की टीका, पृ० 27

47. वेध सुखानुभव लक्षणं दुःखानुभवलक्षलंच। वही, 3, का० 34 की टीका, पृ० 26

48. वेदनीयं द्विविधं सद्वेधमस्यद्वेधंच। वही, 3, का० 35 की टीका, पृ० 27

49. कर्माष्टकस्य ....प्रथम वजीम्। वही, 18, का० 259 की टीका, पृ० 178

50. मुह्यति अनेन जीवः इति। - प्रशमरति प्रकरण, 3, का० 34 की टीका, पृ० 26

51 मिथ्यात्वदलिकमैव ......मिथ्यात्मेवोच्यत इति। वही, 3, का० 35 की टीका, पृ० 27

52. वही, 18, का० 260 का भावार्थ, पृ० 178

53. मोहोत्तर प्रकृतयोऽष्टाविंशतिः सम्यक्तवं, मिथ्यात्वं सम्यग्मिथ्यात्वम्।.......... पुंनपुंसक वेदश्चेति। वही, 3, का० 35 की टीका, पृ० 27

54. आयुश्चतस्त्र .... देवायुरिति। वही, 3, का० 35 की टीका, पृ० 27

55. नाम्यन्ते प्राण्यन्ते येन गति जात्यादि स्थानानि तन्नाम। वही, 3, का० 34 की टीका, पृ० 26

56. अतोनाम कर्मण उत्तर प्रकृतयो द्विषात्वारिंशद भवन्ति। तश्था...... तिर्थंकरनाम चेति वही, 3, का० 35 की टीका, पृ० 27

57. प्रशमरति प्रकरण, 3, का० 34 की टीका, पृ० 26।

58. गोत्रस्योत्तर प्रकृतिद्वयम्। उच्चर्गोत्रंनी चैर्गोत्रंच। वही, 3, का० 35 की टीका, पृ० 27

59. विशिष्ट कुल जैव्यश्वर्यादि च अन्तरयमिति। वही, 3, का० 34 की टीका, पृ० 26

60. दानलाभादि विघ्नकारि च अन्तरयमिति। वही, 3, का० 34 की टीका, पृ० 26

61. अन्तरायोत्तर प्रकृतयः पंच-दानान्तरायम्, लाभान्तरायम् भोगान्तरायम्, उपभोगान्तराय, वीर्यान्तराचेति। वही, ३, का० 35 की टीका, पृ० 27

62. एवमेषामष्टानामपि कर्मणामुत्तर प्रकृतयः..................... तत्रापि विंशत्युत्तर प्रकृति शतस्य बन्धः। प्रशमरति प्रकरण, 3, का० 35 की टीका, पृ० 27

63. एवमियं प्रकृतिरनेक विधा द्वाविंशत्युत्तरशत भैदा इत्यर्थः। तत्याश्चप्रकृतेः .... बन्ध विशेषाच्योदय इति। वही, 4, का० 36 की टीका, पृ० 28

64. गोम्मटसार (कर्मकाण्ड), गा० 21

65. प्रशमरति प्रकरण, 5, का० 39, पृ० 31

66. वही,2, का० 33 की टीका, पृ० 25

67. वही, 5, का० 55, पृ० 40

68. तद्श्च घटीययनत्रन्यायेन .... रागादिपरिणामः। प्रशमरति प्रकरण, 5, का 56 की टीका, पृ० 40

69. प्रवचनसार, तात्पर्यवृति, गा० 29

70. कर्मोदयात् भवगति............ च सुखा दुःखे। प्रशनरति प्रकरण, ४, का० 39, पृ० 31

71. (क) मोहोन्धोगुण .....दुःखहेतुर्भवति इति दर्शयति। वही, 4, का० 39 की टीका, पृ० 31

(ख) दुखद्विद्........... दंःखमादते। वही, 4, का० 40, पृ० 31

72. मिष्टान्नपान मांसोदनादि.....मीन इव विनाशुपयाति। प्रशमरति प्रकरण, 5, का० 44, पृ० 33।

73. स्नानंगरागवर्ति........ मधुकर इव नाशमुपयाति। वही,5, का० 43, पृ० 33

74. गतिविभ्रमेगिताकार......... शलभ इव विपद्यते विवशः वही, 5, का० 42, पृ० 32।

75. कलरिभितमधुर गान्धर्व........हरिणइव विनाशमुपयाति। वही, 5, का० 41, पृ० 32।

76. न हि सोऽस्तोन्द्रिय विषयो .....मार्गप्रलीनानि। प्रशमरति प्रकरण, 5, का० 48, पृ० 36

77. कश्चिच्छुभोऽपि विषयः.........पुनः सुभी भवति। वही, 5, का० 49, पृ० 37

78. कारण वशेनयधत्.........वा प्रकल्पयति। वही, 5, का० 52 की टीका, पृ० 38

79. वही, 5, का० 52 की टीका, पृ० 38

80. राग-द्वेषाभ्यामुपहत मानसस्य....... विधत इति। वही, का० 53 की टीका, पृ० 39

81. कर्म विकारो नारकत्वं .... भवपरम्पराया : मूलं वीजं प्रतिष्ठेति। वही, 5, का० 57 की टीका, पृ० 40

82. कार्याकार्य विनिश्चय.........संज्ञा कलिग्रस्तः। क्लष्टकर्म बन्धन.....बहुविधपरिवर्तनाभ्रान्तः। वही, 1, का० 21-22, पृ० 17

पंचम अध्याय

मोक्ष – विमर्श

मोक्ष – विमर्श :

भारतीय दर्शन में मोक्ष विमर्श एक महत्वपूर्ण विषय है। विशेषकर जैनधर्म दर्शन में इस पर गहन विचार किया गया है और जीव का परम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति ही बतलाया गया है।

जैन वांगमय के अधिकांश शास्त्र मोक्ष-मूलक हैं। इनमें पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, नियमसार, तत्वार्थसूत्र, तत्वार्थश्लोक वार्तिक, तत्वार्थ वृत्ति, सर्वार्थसिद्धि, तत्वार्थधिगमभाष्य, भगवती आराधना, तत्वार्थसार, मूलाचार, सिद्धांतसंग्रह तथा द्रव्यसंग्रह आदि ग्रन्थ प्रमुख हैं जिनमें मोक्ष के स्वरुप आदि पर विस्तृत विवेचन किया गया है।

प्रशमरति प्रकरण भी मोक्ष-विषयक शास्त्र है जिसमें मोक्ष के स्वरुप एवं मैदादि पर संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है।

मोक्ष-स्वरुप :

प्रशमरति प्रकरण में मोक्ष का अर्थ मुक्त होना बतलाया गया है। इसमें मोक्ष के स्वरुप का कथन किया गया है तथा इसे परिभाषित कर बतलाया गया है कि बन्ध-हेतुओं के अभाव और निर्जरा से सबकर्मों का आत्यान्तिक क्षय होना ही मोक्ष हैं, क्योंकि बन्ध-प्रकृतियों के नष्ट होने पर ही मोक्ष होता है। अतः समस्त बन्ध प्रकृतियों का समूल उच्छेद होना मोक्ष है[1]।

मोक्ष प्राप्त करने वाला जीव मुक्त जीव कहलाता है। मुक्त जीव का सुख सिंद्धत्व पर्याय की तरह ही सादि, अनन्त, नित्य, अनुपम, बाधा एवं रोगों आदि भय से सर्वथा रहित है। ऐसे मुक्त जीव क्षायिक सम्यक्त्व, केवल ज्ञान और केवल दर्शन रुप स्वभाव से युक्त हो जाते हैं। किन्तु सुख, ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व आदि स्वाभाविक गुण अपनी चरम सीमा को प्राप्त होकर सदैव प्रकाशमान रहते हैं[2]।

प्रशमरति प्रकरण में मुक्त जीव के संबंध में सक्षेप में बतलाया गया है कि मुक्त जीव

शाश्वत है, उर्ध्वगमन स्वभाववाला है। (डॉ०) लाल चन्द जैन जी ने अपने जैन दर्शन में आत्मविचार ग्रन्थ में मोक्ष के संबंध में विशेष चर्चा की है जो निम्नांकित है:[3]

मोक्ष में जीव का असद्भाव नहीं होता :

प्रशमरति प्रकरण में ऐसा बतलाया गया है कि मोक्ष में जीव का असद्भाव नहीं होता है। यद्यपि बौद्ध दार्शनिकों ने मोक्ष में जीव का अभाव माना है तथा दृष्टांत प्रस्तुत किया है कि जिस प्रकार दीपक के बुझ जाने से प्रकाश का अन्त हो जाता है, उसी प्रकार कर्मों के क्षय हो जाने से निर्वाण में चित्त स्मृति का विनाश हो जाता है। अतः मोक्ष में जीव का अस्तित्व नहीं है[4]।

उपर्युक्त मत का निराकरण करते हुए प्रशमरति प्रकरण में बतलाया गया है कि मोक्ष में जीव का अभाव नहीं होता है, क्योंकि जीव का लक्षण उपयोग है। इसके अर्थों की सिद्धि स्वतः ही हुआ करती है। इसका कारण यह है कि यह दीपक की शिखा की तरह परिणामी है। जैसे दीपक की शिखा काजल आदि रुप में परिणमन करती है और उसके बाद उस काजल का भी कोई दूसरा परिणमन देखा जाता है। अतः यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है कि वस्तु निरन्वय विनाश माननें पर उसकी सिद्धि के लिए हेतु और दृष्टांत मिलना असंभव ही है। अतः परिणामी होने के कारण जीव का स्वरुप ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग ही है, क्योंकि जीव कमी भी अपने उपयोगमयी स्वभाव को नहीं छोड़ता। अतः आत्मा का ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग स्वभाव किसी पर के निमित्त से उत्पन्न नहीं होता किन्तु यह अनादि काल से ही स्वतः सिद्ध है। यद्यपि उपयोग से उपयोगान्तर होता रहता है परन्तु उपयोग समान्य का नाश नहीं होता है। जिस प्रकार कोई पुरुष एक गाँव से दूसरे गाँव में चला जाता है तो उस पुरुष का सर्वथा अभाव होता है, उसी प्रकार जीव के मुक्त होने पर भी उसका अभाव नहीं हो जाता है। इसके सिवाय वीतराग सर्वज्ञ के द्वारा प्रतिपादित आगम में भी मुक्तात्मा को ज्ञान-दर्शनमयी स्वभाव वाला कहा गया है। अतः मुक्तावस्था में जीव सर्वथा अभाव रुप सिद्ध नहीं होता है[5]।

मुक्तात्मा का आकार :

मुक्तात्मा निश्चयनय की अपेक्षा से निराकर होती है, क्योंकि वह इन्द्रियों से दिखलाई नहीं पड़ती है, लेकिन व्यवहार नय की अपेक्षा वह साकार होती है। मुक्तात्मा का आकार मुक्त हुए शरीर से किंचित न्यून अर्थात् कुछ कम होने का कारण यह है कि चरम-शरीर के नाक, कान, नाखून आदि कुछ अंगोपांग खोखले हो जाते हैं। परन्तु शैलशी हो जाने पर ध्यानबल से वे खाली भाग आत्म-प्रदेशों से पूरित हो जाते हैं और उन भागों के पूरित हो जाने से आत्मा के प्रदेश घनीभूत हो जाते हैं तथा इस प्रकार घनीभूतीकरण से तथा शरीर की अवगाहना से आत्म प्रदेशों की अवगाहना एक तिहाई भाग कम हो जाती है[6]।

मुक्त स्थान में मुक्त जीव के अवस्थान का अभाव :

प्रशमरति प्रकरण के टीकाकार आचार्य हरिभद्र ने बौद्ध दार्शनिकों के इस मंतव्य का कथन किया है कि मुक्त जीव जिस स्थान से मुक्त होता है, उसी स्थान पर अवस्थित रहता है, क्योंकि उसमें संकोच-विकास तथा गति के कारणों का अभाव होता है। अतः वह न तो किसी दिशा और विदिशा में गमन करता है और न उपर और न नीचे हो जाता है। वह सांकल आदि से मुक्त हुए किसी प्राणी की तरह ही उसी स्थान पर अवस्थित रहता है। आगे टीकाकार ने उनके मत का निराकरण करते हुए बतलाया है कि मुक्तात्मा मुक्त हुए स्थान पर एक क्षण भी अवस्थित नहीं रहती है, बल्कि अपनी स्वाभाविक उर्ध्वगमन शक्ति के कारण उर्ध्वगमन करती है[7]। यदि जीव का उर्ध्वगमन न मानकर उसे यथास्थान अवस्थित माना जाय, तो पुण्यात्मा एवं पापात्मा का स्वर्ग-नरक गमन सिद्ध नहीं हो सकेगा और परलोक भी असिद्ध हो जायेगा। अतः सिद्ध है कि देह त्याग के स्थान में आत्मा अवस्थित नहीं होती है[8]।

मुक्त जीव के उर्ध्वगमन का कारण :

प्रशमरति प्रकरण मे जीव का कर्मक्षय और उर्ध्वगमन एक साथ होता है, ऐसा बतलाया गया है। मुक्त आत्मा का अधोगमन तथा तिर्यक-गमन क्यों नहीं होता है? इसका निराकरण करते हुए बतलाया गया है कि जीव को अधोलोक तथा तिर्यक दिशा में गति करानेवाला कारण कर्म ही होता है और उसका मुक्त जीव में अभाव होता है, इसलिए मुक्त जीव तिर्यक या अधो दिशा में गमन करके स्वाभाविक गति से उर्ध्वगमन करता है[9]। ग्रन्थकार आचार्य उमास्वाति ने मुक्त जीव के उर्ध्वगमन के हेतुओं का दृष्टांत सहित उल्लेख किया है, जो निम्नांकित है[10] :

पूर्वप्रयोगात्, अविरुद्ध कुलालचक्रवत् :

जिस प्रकार कुम्भकार अपने चक्र को घुमाने के बाद डन्डा हटा लेता है, फिर भी पुराने संस्कारों के कारण चक्का घूमता रहता है, उसी प्रकार संसारी जीव ने मुक्त होने के पहले मुक्ति के लिए अनेक बार प्रणिधान और प्रयत्न किये थे। अतः मुक्त होने में प्रणिधान और प्रयत्न न होने पर भी पूर्व के संस्कारों के वर्तमान होने से मुक्त जीव उर्ध्वगमन करता है। अतः उर्ध्वगमन का एक कारण पुराने संस्कारों का होना ही है।

असंगत्वात्, व्यपगत लेपातुम्बवत् :

मुक्त जीव के उर्ध्वगमन का दूसरा कारण कर्मों के भार का नष्ट होना है। जिस प्रकार मिट्टी से लिप्त तुम्बी पानी में मिट्टी के भार के कारण डूबी रहती है, उसी प्रकार कर्मों के भार के कारण जीव दबा रहता है। तुम्बी के ऊपर लिप्त मिट्टी जब पूर्णतया पानी में धुल जाती है, तब वह तुम्बी पानी के ऊपर आ जाती है, उसी तरह कर्म बन्धन के कट जाने

पर मुक्त जीव उर्ध्वगमन करता है।

बन्धच्छेदात्, एरण्डबीजवत् :

मुक्त जीव के उर्ध्वगमन का तीसरा कारण कर्मबन्ध का उच्छेद है। जिस प्रकार एरण्ड के बीज के ऊपर चढ़े हुए छिलके के फटने पर उसका बीज ऊपर की ओर जाता है, उसी तरह कर्मबन्धन के कट जाने पर मुक्त जीव उर्ध्वगमन करता है।

तथागतिपरिणामाच्च, अग्निशिखावच्च :

जिस प्रकार अग्नि की शिखा स्वाभावतः उपर की ओर उठती है, उसी प्रकार जीव का स्वभाव उर्ध्वगमन करना होता है। जबतक कर्म जीव के इस स्वाभाविक शक्ति को रोके रहता है, तबतक वह पूर्णतया उर्ध्वगमन नहीं कर पाता है, मगर जीव की इस स्वभाविक शक्ति को रोकनेवाले कर्मों के नष्ट होने पर जीव उर्ध्वगमन करता है। इस प्रकार मुक्त जीव के उर्ध्वगमन का चौथा कारण समस्त संग-परिग्रह से मुक्त होना है।

मुक्त जीव का लोकान्त तक गमन :

मुक्त जीव उर्ध्वगमन करता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह निरन्तर उर्ध्वगमन ही करता रहता है। वह जीव लोक के अंतिम भाग तक ही उर्ध्वगमन करता है, इससे आगे वह नहीं जाता हैं, क्योंकि गति में सहायक निमित्त कारण, रुप धर्मास्तिकाय द्रव्य का अभाव होता है। अतः जिस प्रकार जहाज या मछली वहीं तक जा सकते हैं जहाँ तक उनका सहायक पानी होता है, उसी प्रकार मुक्त जीव भी वहीं तक जाते हैं जहाँ तक सहायक धर्म द्रव्य वर्तमान है[11]। अतः यह सिद्ध है कि मुक्त जीव का उर्ध्वगमन लोकान्त तक ही है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मुक्त जीव सर्वथा कर्मबंधन से मुक्त होता है। इसलिए ऐसे जीव का संसार में पुनरागमन संभव नहीं है।

मोक्ष-हेतु :

प्रशमरति प्रकरण में मोक्ष के हेतु पर प्रकाश डाला गया है और बतलाया गया है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र रुप त्रिरत्न मोक्ष के हेतु हैं। इनमें से किसी एक के अभाव में मोक्ष की प्राप्ति संभव नहीं है। केवल मोक्ष के विषय में श्रद्धा रखने से मोक्ष-प्राप्ति नहीं होती है और न मात्र सम्यग्ज्ञान से ही मोक्ष संभव है। यदि सम्यग्ज्ञान मात्र से ही मोक्ष की प्राप्ति मानी जायेगी, तो सम्यग्ज्ञान प्राप्त होते ही साधक मुक्त हो जायेगा, फिर वह धर्मोपदेश आदि कार्य आकाश की तरह नहीं कर सकेगा। उसी प्रकार केवल सम्यग्चारित्र से भी मोक्ष प्राप्त करना असंभव है। अतः मात्र सम्यग्दर्शन या सम्यग्ज्ञान या सम्यक् चारित्र से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

प्रशमरति प्रकरण के टीकाकार आचार्य हरिभद्र ने त्रिरत्न को समझाने के लिए दृष्टांत का प्रयोग किया है और बतलाया है कि जिस प्रकार केवल हरे या बहेड़ा या आँवला से त्रिफला नामक औषध तैयार नहीं हो सकती है, उसी प्रकार केवल सम्यग्दर्शन या सम्यग्दर्शन से मोक्ष-हेतु त्रिरत्न की प्राप्ति संभव नहीं है। जैसे हरे, बहेड़ा और आँवला के मेल से त्रिफला बनता है तो वह रोगों का उन्मूलन करता है, वैसे ही ये तीनों परस्पर में एक दूसरे की अपेक्षा रखकर मोक्ष का साधन करते हैं। इन तीनों के मिले हुए रहने पर ही संसार रुपी रोगों से मुक्ति संभव है। अतः सम्यग्दर्शन - ज्ञान- चारित्र समष्टि रुप रत्न-त्रय मोक्ष के परमहेतु है[12]।

त्रिरत्न के स्वरुप :

प्रशमरति प्रकरण में त्रिरत्न का विस्तार पूर्वक कथन किया गया है तथा इसके स्वरुप पर प्रकाश डाला गया है। इसमें मोक्ष का हेतु त्रिरत्न के स्वरुप का जो कथन किया गया है, निम्न प्रकार है: सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र - ये त्रिरत्न है। इनका क्रमशः उल्लेख इस प्रकार है:-

सम्यग्दर्शन :

प्रशमरति प्रकरण में सम्यग्दर्शन की परिभाषा दी गयी है और बतलाया गया है कि जो पदार्थ जिस स्वभाववाला है, उसका उसी स्वभाव रुप से निश्चय होना तत्वार्थ है और इसमें श्रद्वान् करना सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन दो प्रकार से उत्पन्न होता है - (क) निसर्गज और (ख) अधिगमज [13]।

(क) निसर्गज सम्यग्दर्शन :

परिणाम, निसर्ग और स्वभाव - ये तीनो एकार्थवाची हैं। प्रशमरति प्रकरण में निसर्गज सम्यग्दर्शन के स्वरुप का कथन करते हुए बतलाया गया है कि जो पर उपदेश के बिना स्वभाव से ही सम्यक्त्व उत्पन्न होता है, वह निसर्गज सम्यक्दर्शन कहलाता है।

(ख) अधिगम सम्यग्दर्शन :

शिक्षा, आगम और उपदेशश्रवण- ये अधिगम के समानार्थी हैं। ग्रन्थकार ने इनके स्वरुप का वर्णन कर यह बतलाया है कि जो अगम, गुरुपदेश श्रवण से सम्यकत्व उत्पन्न होता है, वह अधिगम सम्यग्दर्शन है [14]।

सम्यग्ज्ञान :

सम्यग्ज्ञान मोक्ष का हेतु है। सम्यग्ज्ञान का अर्थ यथार्थ ज्ञान है। प्रशमरति प्रकरण में सम्यग्ज्ञान के स्वरुप का कथन कर बतलाया गया है कि जो स्व और पर को यथार्थ रुप से

जानता है, वह सम्यग्ज्ञान कहलाता है।

सम्यग्ज्ञान के पाँच भेद हैं[15] - मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवल ज्ञान। उपरोक्त पाँचो ज्ञान दो भागों में वर्गीकृत किया गया है - प्रत्यक्ष और परोक्ष [16]।

परोक्ष ज्ञान :

मति-श्रुत दोनों ज्ञान परोक्ष हैं, क्योंकि ये ज्ञान इन्द्रियाँ और मन की सहायता से उत्पन्न होते हैं। जैसे धूप से अग्नि का ज्ञान करने में धूप सहायक होता है, वैसे ही ये ज्ञान भी इन्द्रिय और मन की सहायता से पदार्थों को जानते है। अतः जो ज्ञान इन्द्रिय-आवरण और अनिन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है, वह ज्ञान परोक्ष ज्ञान कहलाता है[17]। इस प्रकार परोक्षज्ञान के दो भेद हैं[18]. - (क) मति और (ख) श्रुत परोक्षज्ञान।

मति परोक्षज्ञान :

परोक्षज्ञान का पहला भेद मतिज्ञान है। मतिज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होता है। प्रशमरति प्रकरण में गति के स्वरुप का कथन करते हुए बतलाया गया है कि जो इन्द्रिय और मन की सहायता से उत्पन्न होता है, उस ज्ञान को मति या अभिनिबोध परोक्ष ज्ञान कहते है।

मतिज्ञान के मुख्यतः चार भेद हैं- अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। वे चारों ज्ञान स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु-श्रोत पंचेन्द्रिय और मन से उत्पन्न होने के कारण चौबीस प्रकार के हैं। बहु, बहुविधक, क्षिप्र, अनिःसृत, अनुत्त और अध्रुव तथा इनसे विपरीत एक, एकविध, अक्षिप्र, निःसृत, उक्त और ध्रुव - इन बारह प्रकार के पदार्थों के अवग्रह आदि चार ज्ञान होते हैं। अतः मतिज्ञान $4\times 6\times 12 = 288$ प्रकार का है तथा अवग्रह के दो भेद है। (1) अर्थावग्रह और (2) व्यंजनावग्रह। व्यंजनावग्रह चक्षु और मन के सिवाय शेष चार इन्द्रियों एवं बारह ही प्रकार के पदार्थों को होता है। इसलिए इसके $12\times 4 = 48$ भेद हैं। इस प्रकार पूर्वोक्त 288 भेदों में 48 भेदों के मिलाने से मतिज्ञान 336 प्रकार का होता है[19]।

श्रुतज्ञान :

परोक्षज्ञान का दूसरा भेद श्रुत ज्ञान है। श्रुतज्ञान का अर्थ होता है- सुनकर ज्ञान प्राप्त करना। प्रशमरति प्रकरण के टीकाकार ने बतलाया है कि मतिज्ञान की उत्पत्ति मति-ज्ञान पूर्वक होती है। अर्थात् मतिज्ञान के बाद ही श्रुतज्ञान की उत्पत्ति मति-ज्ञान पूर्वक होती है। अर्थात् मतिज्ञान के बाद ही श्रुतज्ञान होता है। इस ज्ञान में भी इन्द्रिय और मन का अवलम्बन रहता है, इसलिए यह परोक्ष प्रमाण कहलाता है।

श्रुतज्ञान के मुख्यतः दो भेद हैं-अंग बाह्य और अंग प्रविष्ट। इनमें अंग बाह्य के अनेक भेद हैं और अंग प्रविष्ट के आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति,

धर्मकथांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, उपासकाध्ययनांग, अन्तःकृद्दशांग, अनुत्तरोपपादिक दशांग, प्रश्न व्याकरणांग, विषाक सूत्रांग और दृष्टिवादांग - ये बारह भेद हैं[20]।

उक्त दोनों परोक्षज्ञान का विषय समस्त द्रव्यों के कुछ पर्याय है[21]।

प्रत्यक्षज्ञान :

सम्यग्ज्ञान का दूसरा भेद प्रत्यक्षज्ञान है। यह इन्द्रिय और मन रहित ज्ञान है। यह आत्मा की सहायता से उत्पन्न होता है। प्रशमरति प्रकरण के टीकाकार ने इसके स्वरुप का कथन कर बतलाया है कि जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना आत्मा से उत्पन्न होता है, वह प्रत्यक्षज्ञान कहलाता है। जैसे - अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवल ज्ञान ये तीनों प्रत्यक्ष ज्ञान हैं[22]।

अवधिज्ञान :

अवधिज्ञान प्रत्यक्ष सम्यग्ज्ञान है। इसके स्वरुप का कथन किया गया है और बतलाया गया है कि इन्द्रियादिक पर पदार्थों की अपेक्षा रहित आत्मा के द्वारा रुपी पदार्थों का जो ज्ञान होता है, उसे अवधिज्ञान कहते हैं। यह क्षयोपशमिक ज्ञान है, क्योंकि यह क्षय एवं उपशम दोनों के कारण उत्पन्न होता है।

अवधिज्ञान के जघन्य, मध्यम एवं उत्कृष्ट आदि अनेक भेद हैं। यह केवल रुपी पदार्थों को जानता है। इसलिए इसका विषय केवल स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण से युक्त रुपी पदार्थ है[23]।

मनः पर्ययज्ञान :

मनः पर्ययज्ञान प्रत्यक्षज्ञान का दूसरा भेद है। इसका अर्थ होता है - दूसरे के मन में स्थित पदार्थों का ज्ञान। प्रशमरति प्रकरण में मनः पर्यय ज्ञान की परिभाषा देते हुए बतलाया गया है कि जो इन्द्रियादिक पर पदार्थों की सहायता के बिना आत्मा द्वारा दूसरे के मन में स्थित सरल अथवा जटिल रुपी पदार्थों को जानता है, उसे मनः पर्यय ज्ञान कहा गया है। मनः पर्यय ज्ञान के दो भेद हैं- ऋजुमति और विपुलमति।

ऋजुमति मनः पर्यय ज्ञान :

इसके स्वरुप का कथन कर बतलाया गया है कि सरल मन- वचन-काय से चिन्तित दूसरे के मन में स्थित रुपी पदार्थ को जो जानता है, उसे ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान कहते हैं।

विपुलमति मनः पर्यय ज्ञान :

विपुलमति ज्ञान मनः पर्यय ज्ञान का दूसरा भेद है। प्रशमरति प्रकरण के टीकाकार ने इसके स्वरुप का कथन किया है और बतलाया है कि जो सरल अथवा कुटिल मन-वचन-काय

से चिन्तित दूसरे के मन में स्थित पदार्थ को जानता है, उसे विपुलमति मनः पर्यय ज्ञान कहते हैं।

इस प्रकार मनःपर्ययज्ञान क्षयोपशमिक ज्ञान है। इसका विषय रुपी पदार्थ का अनन्तवां भाग है[24]।

अवधि और मनःपर्यय ज्ञान में विशेषता :

अवधि और मनः पर्ययज्ञान विशुद्धतर है। स्वामी, क्षेत्र, काल, विषय और विशुद्धि की अपेक्षा इन दोनों में विशेषता है[25]।

केवल ज्ञान :

केवल ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है। यह समस्त ज्ञानों में परम उत्कृष्ट है। प्रशमरति प्रकरण के टीकाकार में केवल ज्ञान के स्वरुप का कथन किया है और बतलाया है कि जो त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों एवं उसके पर्यायों को आत्मा की सहायता से प्रत्यक्ष रुप से जानता है, उसे केवल ज्ञान कहते हैं। यह पूर्णरुपेन क्षायिक ज्ञान हैं क्योंकि यह ज्ञान ज्ञानावरण कर्मों के आत्यन्तिक क्षय से उत्पन्न होता है[26]। इसका विषय त्रिकालवर्ती समस्त द्रव्य एवं उसके पर्याय हैं।

एक जीव में एक साथ चार ज्ञान का होना :

मतिआदि पांच ज्ञानों में प्रारम्भ के चार ज्ञान क्षायोपशमिक ज्ञान हैं और एक केवल ज्ञान क्षायिक ज्ञान है। क्षायिक ज्ञान ज्ञानावरण कर्म के क्षय से होता है, इसलिए वह अकेला ही रहता है। एक जीव के एक साथ एक से लेकर चार तक ज्ञान हो सकते हैं। जैसे एक ज्ञान हो तो केवल ज्ञान, दो हों तो मति-श्रुत ज्ञान,तीन हों तो मति, श्रुत और अवधि और चार हों तो मति-श्रुत अवधि और मनः पर्यय। इस प्रकार एक जीव के एक से चार ज्ञान ते होते हैं, पांच ज्ञान एक साथ कभी नहीं होते हैं[27]।

सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान में भेद होने के कारण :

मति, श्रुत और अवधि - ये तीन ज्ञान मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान दोनों रुप होतें हैं। जब ये सम्यग्दृष्टि जीव के होते हैं, तब सम्यग्ज्ञान कहलाते हैं। परन्तु जब ये मिथ्या दृष्टि जीव के होते हैं, तब मिथ्याज्ञान माने जाते हैं। यद्यपि ज्ञान न मिथ्या होता है और न सम्यक, तो भी पात्र की विशेषता से उसमें मिथ्या और सम्य का व्यवहार होता है। जिस प्रकार पात्र की विशेषता से दूध कड़वा कहा जाता है, उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि पात्र की विशेषता से ज्ञान मिथ्याज्ञान कहा जाता है। यद्यपि मिथ्या दृष्टि और सम्यग्दृष्टि जीवों को पदार्थ का प्रतिभास सामान्य रुप से एक समान होता है तो भी मिथ्यादृष्टि का ज्ञान मिथ्याज्ञान ही रहता है, क्योंकि उसे सत् और असत् पदार्थ में कोई विशेषता नहीं रहती, वह अपनी इच्छा से दोनों

पदार्थो को समान रुप से ग्रहण करता है। जैसे पागल मनुष्य कभी स्त्री को स्त्री और माता को माता जानता है। परन्तु, उसके वैसे जानने में स्थिरता नहीं रहती, इसलिए पागल मनुष्य का ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं है। मनः पर्यय ज्ञान छठवें गुणस्थान से लेकर बारहवें गुण स्थान तक के मुनियों के ही होता है और केवल ज्ञान अरहन्त, सिद्ध अवस्था में ही होता है। इसलिए ये दोनों सदा सम्यक ही होते हैं, उनमें मिथ्यापना का अभाव रहता है। इस प्रकार सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के कारण ज्ञान सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान होता है[28]।

सम्यग्चारित्र :

सम्यग्चारित्र मोक्ष का हेतु है। इसके बिना मोक्ष की प्राप्ति संभव नहीं है। सम्यग्चारित्र का अर्थ-यथार्थ चरित्र है। प्रशमरति प्रकरण में इसके स्वरुप का कथन करते हुए बतलाया गया है कि सम्यग्दर्शन एवम् ज्ञान-पूर्वक आचरण करना, सम्यचारित्र है।

सम्यग्चारित्र के पाँच भेद हैं[29] - सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म साम्पराय और यथाख्यात।

सामायिक चारित्र :

सामायिक चरित्र सम्यग्चारित्र का प्रथम भेद है। प्रशमरति प्रकरण में इसका स्वरुप का कथन किया गया है औ बतलाया गया है कि सदा के लिए या किसी निश्चित काल तक के लिए अभेदरुप से समस्त पाप कार्यों का त्याग करना सामायिक नामक चरित्र हैं।

छेदोपस्थापना चारित्र :

सम्यग्चारित्र का दूसरा भेद छेदोपस्थापना चारित्र है। छेदोपस्थापना का अर्थ है- छेद अर्थात् भेद पूर्वक पाप कार्य का त्याग करना या दोष लगने पर पुनः प्रायश्चित विधि से उसे शुद्ध करना। प्रशमरति प्रकरण में इसकी परिभाषा दी गयी है। तदनुसार जिसमें हिंसा आदि के भेद पूर्वक पाप कार्यों का त्याग होता है, वह छेदोपस्थापना चारित्र है। अथवा व्रत में बाधा आने पर पुनः उसकी शुद्धि करने को छेदोपस्थापना चारित्र कहते हैं।

परिहार विशुद्धि चारित्र :

सम्यग्चारित्र का तीसरा भेद परिहार विशुद्धि चारित्र है। इसके स्वरुप का कथन कर बतलाया गया है कि जिसमें प्राणिघात के एक विशिष्ट प्रकार के त्याग से शुद्धि होती है या परिणामों में निर्मलता आती है, वह परिहार विशुद्धि चारित्र है।

सूक्ष्म साम्पराय चारित्र :

सम्यग्चारित्र का चौथा भेद सूक्ष्म साम्पराय चारित्र है। इसके स्वरुप का कथन किया गया है और बतलाया गया है कि समस्त कषायों के उपशान्त अथवा क्षीण हो जाने पर जिस मुनि

के मात्र सूक्ष्म लोभ का सद्भाव रह जाता है, उसे सूक्ष्म साम्पराय चारित्र कहते हैं।

उपशम श्रेणी वाले मुनि के नवम् गुणस्थान के जब समस्त स्थूल कषायों का उपशम हो जाता है तथा क्षपक श्रेणी वाले के समस्त स्थूल कषायों का क्षय हो चुकता है, तब वह दशम गुणस्थान में प्रवेश करता है, उस समय उसके संज्वलन सम्बन्धी सूक्ष्म लोभ का ही उदय शेष रह जाता है। उसी समय उसके सूक्ष्म साम्पराय नाम का चारित्र प्रकट होता है। यह संयम सिर्फ दशम गुणस्थान में ही होता है।

यथाख्यात चारित्र :

सम्यग्चारित्र का पाँचवा भेद यथाख्यात चारित्र है। इसके स्वरुप का कथन किया गया है और बतलाया गया है कि चारित्र मोहनीय कर्म के सम्पूर्ण रुप से क्षय अथवा उपशम हो जाने से जो चारित्र प्रकट होता है, उसे यथाख्यात चारित्र कहते हैं। यह चारित्र मोहनीय कर्म के उपशम से उत्पन्न होता है। यह मात्र ग्यारहवें गुणस्थान में होता है, उसे औपशमिक यथाख्यात चारित्र कहा जाता है। और जो चारित्र मोह के क्षय से होता है, उसे क्षायिक यथाख्यात चारित्र कहते हैं। यह बारहवें आदि गुणस्थानों में होता है। यह चारित्र अकषायों को होता है।

इस प्रकार उक्त पाँच प्रकार के चारित्र अष्टविध कर्मों के समूह को नष्ट कर डालता है। अतः ये मोक्ष के प्रधान कारण हैं[30]।

उक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र तीनों समष्टि रुप से मोक्ष के हेतु हैं। सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान के बिना सम्यग्चारित्र भजनीय है। अतः दो रत्नों के होने पर ही सम्यक चारित्र होता है। इस प्रकार रत्न-त्रय ही मोक्ष स्वरुप है[31]।

जैन दार्शनिक मुक्तात्माओं का किसी शक्ति में विलोम होना नहीं मानते है। समस्त मुक्त आत्माओं की स्वतंत्र सत्ता रहती है। मोक्ष में प्रत्येक आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्तवीर्य एवं अनन्त सुख से युक्त है इसलिए इस दृष्टि से उनमें कोई भेद नहीं है। क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, ज्ञान, अवगाहन, अन्तर, अल्प, बहुत्व की अपेक्षा जो मुक्त आत्माओं में भेद की कल्पना की गयी है, वह सिर्फ व्यवहारनय की अपेक्षा से की गयी है। वास्तव में उनमें भेद करना संभव नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ग्रन्थकार आचार्य उमास्वाति ने मोक्ष स्वरुप एवं उसकी प्राप्ति की प्रक्रिया का सूक्ष्म, तर्क संगत और वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया है। इस प्रकार उक्त मोक्ष-प्राप्ति की प्रक्रिया द्वारा ही साधक अपने स्वाभाविक स्वरुप को प्राप्त करता है और चरमलक्ष्य मोक्ष पाकर जन्म-मरण के चक्कर से सर्वदा मुक्त हो जाता है। इस प्रकार मोक्ष स्वरुप-भेद विमर्श अधिकार पूर्ण हुआ।

•

सन्दर्भ-सूची

1. कार्त्स्यैन बन्ध वियोगो मोक्षः। द्वाविंशत्युत्तरेडपि प्रकृतिशते निःशषतः क्षीणे मोक्षो भवति। - प्रशमरति प्रकरण, 14, का 221 एवं उसकी टीका, पृ० 155

2. सादिकमनन्तमनुपमम व्याबाध सुखमुत्तमं प्राप्तः। केवल सम्यक्त्वज्ञानदर्शनात्मा भवति मुक्तः। प्रशमरति प्रकरण, 21, का० 289, पृ० 199

3. डॉ० लाल चन्द जैनः जैनदर्शन में आत्म विचार, पृ० 266-68

4. केषांजिद भावमात्रं मोक्षस्तन्निराकरणाया। वही, 21, का० 290, पृ० 200

5. मुक्तः सन्नाभावः स्वालक्षण्यात् स्वतोऽर्थसिद्धेश्च। भावान्तर संक्रान्तेः सर्वज्ञाज्ञोंपदेशाच्च। वही, 21, का० 290, पृ० 200

6. प्रशमरति प्रकरण, 20, का० 281, पृ० 194

7. यतो गुरुद्रव्यमधो गच्छद् दृष्टं पाषाणादि, तस्य गौरवं...................... यत्सर्वकर्म विनिमुक्तोऽत्यन्त लघुरघो गमिष्यति। वही, 21, का० 292 की टीका, पृ० 202

8. ईषन्यनाग ह्स्यानागमक्षराणां .... तावत्प्रमाणां शैलशी मेति। वही, 21, का० 283 की टीका, पृ० 196

9. योगामनोवाक्कालक्षणा .... गच्छत्यूर्ध्वगेव सिद्धः। प्रशमरति प्रकरण, 21, का० 293, पृ० 202

10. (क) पूर्व प्रयोग सिद्धेर्बन्धच्छेदाद संग भावाच्च। गति परिणामाच्च तथा सिद्धस्योर्ध्वंगतिः सिद्धा। वही, 21, का० 294, पृ० 203

    (ख) वही, 21, का 294 की टीका, पृ० 203

11. (क) लोकान्तादपि न परं प्लवक इवोपग्रहाभावात्।

    (ख) सिद्धस्योर्ध्वं मुक्तस्या लोकान्ताद् गति भंवति।

    प्रशमरति प्रकरण, 21, का० 292-293, पृ० 202

12. समुदितमेव त्रितयमविकलं मोक्ष साधनं। एक तराडभावे....... न मोक्षं साधवन्तोत्यर्थः। प्रशमरति प्रकरण, 15, का० 230 की टीका, पृ० 162

13. वही, 14, का० 222, पृ० 156

14. प्रशमरति प्रकरण, 14, का० 223, पृ० 157

15. ज्ञानं मत्यादि भेदेन पंचधा। तत् समास्तो द्विधा प्रत्यक्ष च। मति श्रुते...... परोक्षमिति। वही, 14, का० 224 एवं उसकी हरिभद्रीय टीका, पृ० 157

16. वही, 14, का० 224, पृ० 157

17. प्रशमरति प्रकरण, 14, का० 224 की टीका, पृ० 157

18. तत्र परोक्षं द्विविधं श्रुतमाभिनिबोधिकं च विज्ञेयम। वही, 14, का० 225, पृ० 157

19. एषां मत्यादिज्ञानानामुत्तर भेद.........भेदादनेकधा। प्रशमरति प्रकरण, १४, का० 226 की टीका, पृ० 158

20. श्रुतमागमोडतोन्द्रिय.........श्रुतं भवति। वही, 14, का० 225 की टीका, पृ० 157-158

21. तत्र प्रत्यक्षमवधि मनः पर्याय केवलाख्यमक्षस्यात्मनः साक्षादिन्द्रिय निरपेक्षं क्षयोपशमजं क्षयोत्वं च। प्रशमरति प्रकरण, 14, का० 224 की टीका, पृ० 157

22. वही, 14, का० 224 की टीका, पृ० 157

23. अवधिर्वन्यमध्यमोतकृष्टादि भेदेनानेकाधि रुपि द्रव्य निबन्धनः। वही, 14, का० 226 की टीका, पृ० 158

24. प्रशमरति प्रकरण, 14, का० 226 की टीका, पृ० 157

25. वही, 14, का० 226 की टीका, पृ० 158

26. तत्र प्रत्यक्षमवधिमनः पर्याय केवलाख्यमक्षस्यात्मनः साक्षादिन्द्रिय निरपेक्ष क्षयोपशमजं क्षयोत्वं च। वही, 14, का 224 की टीका, पृ० 157

27. वही, 14, का० 226 की टीका, पृ० 158

28. सम्यग्दृष्टिस्तत्वार्थ............. मिथ्यादृष्टेरज्ञानमेवः। प्रशमरति प्रकरण, 14, का० 227 की टीका, पृ० 159

29. सामायिक मित्यार्थ........ यथाख्यातम्। वही, 14, का० 228, पृ० 160

30. इत्यैतत् पंचविर्धं चारित्रं मोक्ष साधनं प्रवरम्। प्रशमरति प्रकरण, 15, का० 229, पृ० 161

31. पूर्वद्वयसम्पद्यपि तैषां भजनीय.......... भवति सिद्धः। वही, 15, का० 231, पृ० 162

पञ्चम अध्याय

उपसंहार

पूर्व के अध्यायों में मैंने वाचक उमास्वाति का परिचय देने तथा उनके प्रशमरति प्रकरण की विभिन्न विशेषताओं का अध्ययन करने का यत्किंचित प्रयत्न किया है। अब यहाँ मैं उपलब्ध प्रमुख तथ्यों के समेकित सार रुप को उपसंहार के रुप में निम्न प्रकार प्रस्तुत कर रही हूँ :

प्रशमरति प्रकरण जैसा कि इसके नाम से ही सिद्ध होता है कि यह संस्कृत भाषा में निबद्ध वैराग्य विषयक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के लेखक के सम्बन्ध में विद्वान् एकमत नहीं हैं। कुछ विद्वानों का मानना है कि इसके लेखक आचार्य उमास्वाति हैं, जबकि अन्य इससे सहमत नहीं हैं। वास्तव में इसके लेखक कौन हैं? यह एक गम्भीर अनुसंधान का विषय है। इतना तो स्पष्ट है कि प्रशमरति प्रकरण के टीका का आचार्य हरिभद्र हैं। परन्तु इन्होंने अपनी टीका में ऐसा उल्लेख नहीं किया है कि आचार्य उमास्वाति विरचित प्रशमरति प्रकरण के ही वे टीकाकार हैं। इसके अतिरिक्त अन्य जो भी टीकाएँ और अवचूरियाँ लिखी गईं हैं, उनमें से केवल एक अवचूरि प्राप्त हुई है जिसमें प्रशमरति प्रकरण के रचयिता के रुप में वाचक उमास्वाति का उल्लेख किया गया है[1]।

प्रशमरति प्रकरण के रचयिता वाचक उमास्वाति हैं, इसके सम्बन्ध में जैन दर्शन के मूर्धण्य विद्वानों पं० नाथूराम प्रेमी, आचार्य सिद्धसेन, पं० सुखलाल संघवी, पं० कैलाश चन्द्र शास्त्री आदि ने अपने ग्रन्थों में विशद विवेचन किया है[2]।

मैं भी उक्त विद्वानों के मत से सहमत हूँ। परन्तु मेरी दृष्टि में प्रशमरति प्रकरण के कर्त्ता तत्वार्थ सूत्रकार से भिन्न कोई दूसरे ही उमास्वाति हैं। अतः निर्विवादतः यह सिद्ध है कि वाचक उमास्वाति ही प्रशमरति प्रकरण के कर्त्ता हैं।

जैन दार्शनिकों ने वैराग्य विषयक अनेक ग्रन्थों का सृजन किया है। आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार और समयसार जैसे वैराग्य विषयक ग्रन्थों की संरचना

प्राकृत भाषा में की, तो उनके उत्तरवर्ती आचार्य स्वामी कार्तिकेय, उमास्वाति, पूज्यपाद, अमितगति, योगेन्द्र आदि ने संस्कृत भाषा में वैराग्य विषयक साहित्य की रचना की है।

आचार्य उमास्वाति रचित प्रशमरति प्रकरण एक वैराग्य विषयक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का प्रमुख लक्ष्य भव्य प्राणियों को प्रशमसुख की ओर आकृष्ट करना है।

प्रशमरति प्रकरण शीर्षक से ही स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ का मूल केन्द्र बिन्दु प्रशम-प्रेम है। यहाँ प्रशमरति प्रकरण के कर्त्ता ने इसकी व्युत्पत्ति करते हुए बतलाया है कि प्रशमरति दो शब्दों के मेल से बना है – प्रशम और रति। प्रशम का अर्थ – वैराग्य और रति का अर्थ – प्रेम है। इस प्रकार वैराग्य में प्रीति करना प्रशमरति है। माध्यस्थ, वैराग्य, विरागता, शान्ति, उपशम, प्रशम, दोष क्षय, कषाय, विजय – ये सब वैराग्य के पर्यायान्तर हैं। ग्रन्थकार ने राग-द्वेष को ही संसार-परम्परा का जनक माना है और उस पर विजय प्राप्त करने के लिए वैराग्य मार्गी होना अत्यावश्यक बतलाया हैं क्योंकि प्रशम में रति रखनेवाला गृहस्थ एवं संयमी मुनि ही क्रमशः स्वर्ग एवं मोक्ष फल को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार उक्त विश्लेषण से प्रशमरति प्रकरण नाम की सार्थकता स्वतः सिद्ध हो जाती है। अतः वैराग्य विषयक ग्रन्थों में प्रशमरति प्रकरणं को विशिष्ट स्थान प्राप्त है।

प्रशमरति प्रकरण में मुख्यतः जैन दर्शन के नौ तत्वों का सम्यक् निरुपण किया गया है जो इस ग्रन्थ की दार्शनिकता को उजागर करता है। जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध एवं मोक्ष – ये नौ तत्व हैं। सत्ता, सत्य, सत्, समान्य, द्रव्य, अन्वय, पदार्थ, वस्तु एवं अर्थ – ये सब तत्व के पर्यायान्तर नाम हैं। इसमें उक्त नौ तत्वों के स्वरुप एवं उनके भेदों का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। इस प्रकार तत्व विषयक यह ग्रन्थ भव्य प्राणियों के लिए बहुपयोगी है।

प्रशमरति प्रकरण एक द्रव्यानुयोग विषयक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें द्रव्य का सम्यक् निरुपण हुआ है और बतलाया गया है कि द्रव्य सत् स्वरुप में स्थित होने के कारण नित्य एवं अविनाशी है। द्रव्य के जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल-छह भेद बतलाये गये हैं। इसमें द्रव्य के भेदों का विस्तार पूर्वक विश्लेषण किया गया हैं जो अत्यंत ठोस एवं वैज्ञानिक पद्धति पर आधारित है। इसके ग्रन्थकार ने अंत में निर्विवादतः यह सिद्ध कर दिया है कि अशुद्ध द्रव्य हेय है और शुद्ध द्रव्य उपादेय है, क्योंकि शुद्ध द्रव्य अंगीकार करने पर ही मोक्ष की प्राप्ति संभव है जो भारतीय दार्शनिकों का चरम लक्ष्य रहा है। अतः द्रव्यानुयोग विषयक ग्रन्थों में प्रशमरति प्रकरण का प्रमुख स्थान है।

प्रशमरति प्रकरण चरणानुयोग मूलक ग्रन्थ है जिसमें आचार सम्बन्धी नियमों का विशद् विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ के कर्ता ने आचार को मुनि एवं श्रावकाचार – दो भागों में वर्गीकृत करके मुनि आचार को सर्वोत्कृष्ट माना है। उन्होंने मुनि के स्वरुप का कथन कर मुनियों के पालन करने योग्य भावना, धर्म एवं व्रतादि आचार संबंधी नियमों का विस्तार

पूर्वक कथन किया है। इसमें मुनि आचार संबंधी भावना के स्वरुप एवं इसके अनित्यादि बारह भेदों का उल्लेख कर कषाय पर विजय पाने के लिए धर्मों के पालन करने का निर्देश किया गया है। इसमें धर्म स्वरुप एवं उसके क्षमादि दस भेदों का विस्तार पूर्वक कथन करके उपसंहार के रुप में बतलाया गया है कि दस धर्म का पालन करने वाला मुनि ही चिरकाल संचित दुर्भेद्य राग, द्वेष और मोह को थोड़े ही समय में उपशम करके क्रमशः बलशाली परीषह, गौरव कषाय, योग और इन्द्रियों के समूह को नष्ट कर देता है। परन्तु जबतक वह पंच महापापों से विरत नहीं होता, तबतक वह अपना शुद्ध स्वरुप प्राप्त करने में सफल नहीं हो सकता है। अतः उस मुनि को अपने स्वरुप-प्राप्ति के लिए पंचमहाव्रतों - अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह का सम्यक् पालन करना परमावश्यक है। इस प्रकार महाव्रती मुनि ही परम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

इसमें मुनि-आचार के साथ ही श्रावक आचार के स्वरुप का कथन करके श्रावकों के पालन करने योग्य पंच अणुव्रत, तीन गुणव्रत एवं चार शिक्षाव्रत का सम्यक् निरुपण किया गया है। इस प्रकार इसमें श्रावक के कुल बारह प्रकार के व्रतों के विवेचनोपरांत संलेखना व्रत का उल्लेख किया गया है तथा बतलाया गया है कि जो श्रावक व्रतों का पालन करते हुए संलेखना पूर्वक आराधना कर मृत्यु को प्राप्त होता है, वह लोक में इन्द्र पद को प्राप्त करता है और क्रमशः आठ भवों के अन्दर ही नियम से मोक्ष प्राप्त करता है।

इस प्रकार उक्त दोनों प्रकार के आचारों में मुनि-आचार परम उत्कृष्ट है जिनका स्वाभाविक फल मोक्ष की प्राप्ति है। जबकि गृहस्थाचार का वैषयिक फल स्वर्ग एवं परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति है। अतः मोक्ष की दृष्टि से मुनि आचार ही उपादेय है तथा मुमुक्षुओं के लिए आचरणीय है।

इसमें जीव-बंध की प्रक्रिया एवं हेतु पर गहन विचार करते हुए बंध के स्वरुप एवं उसके भेदों का विस्तार सहित वर्णन किया गया है। इसमें कर्मबंध का प्रमुख कारण कषाय एवं उसके चार भेदों का उल्लेख कर मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और योग को राग-द्वेष की सेना माना गया है। इसके साथ ही कर्मबंध की स्थिति को दृढ़ करने वाली छह लेश्याओं का क्रमशः निरुपण करके ज्ञानावरणदि मूल कर्म एवं उनके उत्तर प्रकृतियों का विस्तारपूर्वक विश्लेषण किया गया है। इस प्रकार जीव बंध प्रक्रिया के मूल कारण राग-द्वेष का वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुतिकरण कर इसमें जीव और कर्म का संबंध सोना और किट्टकालिया की तरह अनादिकालीन माना गया है।

इसमें मोक्ष-स्वरुप के साथ ही मुक्तात्मा के आकार एवं उर्ध्वगमन के कारणों पर दृष्टांत प्रस्तुत किया गया है और उनका उर्ध्वगमन लोकान्त तक ही बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त इसमें मोक्ष हेतु त्रिरत्न-सम्यक-दर्शन-ज्ञान-चारित्र निरुपण एवं उसकी प्राप्ति की प्रक्रिया का सूक्ष्म, तर्कसंगत और वैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है। इस प्रकार मोक्ष स्वरुप-भेद विमर्श में अंत में बतलाया गया है कि मोक्ष-प्राप्ति की उक्त प्रक्रिया द्वारा ही

साधक अपने चरमलक्ष्य मोक्ष को प्राप्तकर जन्म-मरण के चक्कर से सदा के लिए मुक्त हो सकता है।

उक्त विश्लेषण के आधार पर निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि आचार्य उमास्वाति जैन-सिद्धान्त-गगन के देदीप्यमानं सूर्य हैं। और प्रशमरति प्रकरण उनकी अद्भुत एवं अनुपम कृति है जो वैराग्य मार्गियों के लिए पथ प्रदर्शक है। अतः वैराग्य विषयक यह ग्रन्थ मुमुक्षुओं के लिए उपादेय होने के कारण आचरणीय है ।

सन्दर्भ-सूची

1. प्रशमरति प्रकरणः अवचूरि, सूत्र 1, पृ० 127

2. (क) जैन साहित्य का इतिहास (नाथूराम प्रेमी) पृ० 17-18

   (ख) तत्वार्थसूत्र, प्रस्तावना (पं० सुखलाल संघवी) पृ० 17-18।

   (ग) जैन साहित्य का इतिहास (पं० कैलाश चन्द्र शास्त्री), पृ० 229

सन्दर्भ - ग्रन्थ - सूची

1. अकलंक ग्रन्थत्रयम् : भट्टाकलंकदेव; सम्पादक - पं० महेन्द्र कुमार, प्रकाशक -सिंधी जैन ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, प्रथमावृति, वि० सं० 1996
2. अध्यात्म रहस्य (हिन्दी व्याख्या सहित) : पं० आशाधर, सम्पादक - पं० जुगुलकिशोर मुख्तार, प्रकाशक - वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली, सन् 1957
3. अमितगति श्रावकाचार (हिन्दी अनुवाद सहित) : सम्पादक - पं० वंशीधर, शीलापुर, प्रथम संस्करण, वि० सं० 1979
4. अष्टपाहुड़ (हिन्दी वचनिका सहित) : कुन्दकुन्दाचार्य, प्रकाशक - अनन्तकीर्ति माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, प्रथम संस्करण, 1916
5. आचारांगसूत्र : प्रथम श्रुतस्कन्ध, (हिन्दी अनुवाद सहित) : अनुवाद - पं० मुनि श्री सोभागमल जी महाराज, सम्पादक - पं० वसन्ती लाल नलदाया, न्यायतीर्थ, प्रकाशक - जैन साहित्य समिति, नयापुरा, उज्जैन, प्रथमावृत्ति, वि० सं० 2007
6. आगम युग का जैन दर्शन : पं० दलसुख मालवणिया, संपादक - विजयमुनि शास्त्री, प्रकाशक - सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, प्रथम प्रवेश, जनवरी 1966
7. आत्ममीमांसा तत्वदीपिका : प्रो० उदयचन्द्र जैन, प्रकाशक - श्री गणेश वर्णी दि० जैन संस्थान, नरिया, वाराणसी, प्रथम संस्करण, वी, नि, सं० 1501
8. आत्ममीमांसा : पं० दलसुख मालवाणिया, मुद्रक - रामकृष्णदास, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय प्रेस, बनारस, 1953
9. आत्मरहस्य : रतनचन्द्र जैन, प्रकाशक - मार्तण्ड उपाध्याय, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, सन् 1948
10. आत्मविज्ञान : राजयोगाचार्य स्वामी व्यासदेव जी, प्रकाशक - योग निकेतन ट्रस्ट, गंगोत्तरी, उत्तरकाशी, स्वर्गाश्रम, ऋषिकेश (उत्तराखण्ड),
11. आत्मानुशासन (हिन्दी भाषानुवाद सहित) : गुणद्राचार्य, प्रकाशक - इन्द्रलाल शास्त्री विषाअलंकार, जबपुर, श्रुत पंचमी, बी० नि० सं० 2482।

12. आत्मानुशासन : आचार्य गुणभद्र, प्रकाशक - जैन संस्कृत संरक्षक संघ, शोलापुर, वि० सं० 2018

13. आप्तपरीक्षा (हिन्दी अनुवाद-प्रस्तावनादि सहित) : विद्यानन्द स्वामी, सम्पादक और अनुवादक - न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल कोठिया, प्रकाशक - वीर सेवा मन्दिर, सरसाया, जिला सहारनपुर, प्रथमावृत्ति, वीर नि० सं० 2476

14. आयारो : सम्पादक - मुनि श्रीनथमल, प्रकाशक - जैन श्वे० तेरापंथी महासभा, कलकत्ता, सन् 1967

15. आराधनासार : देवजैनाचार्य, सम्पादक - टी० रत्नकीर्ति देव, जन धर्मशिला, प्रयाग, सन् 1967

16. आत्मापद्धति : देवसेन, मा० दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, 1920

17. इष्टोपदेश (संस्कृत - हिन्दी टीका सहित - समाधिशतक के पीछे) : पूज्यपादाचार्य, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली, प्रथम संस्करण, वि० सं० 2021

18. उत्तरज्झयणाई : सम्पादक - मुनि नथमल, प्रकाशन - जैन श्वे० तेरांपंथी महासभा कलकत्ता, 1916

19. उत्तराध्ययन सूत्र (अनुवाद सहित) : सम्पादक - साध्वी चन्दना, वीरायतन प्रकाशन, जैन भवन, लोहामंडी, आगरा, सन् 1972

20. कषाय पाहुड़ (सूत्र और चूर्णि सहित) : यतिवृषम, वीर शासन संघ, कलकत्ता, 1955

21. कार्तिकेयानुप्रेक्षा (संस्कृत-हिन्दी टीका सहित) : स्वामी कार्तिकेय, सम्पादक- आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, प्रकाशक- परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला श्रीमद् रायचन्द्र आश्रम, अगास प्रथमावृत्ति, वी० सं० 2486

22. कुन्दकुन्द प्राभृत : सम्पादक - पं० कैलाशचन्द शास्त्री, प्रकाशक - जीवराज जैन ग्रंथमाला, शोलापुर, प्रथम संस्करण, 1960

23. कुन्दकुन्द भारती : सम्पादक - पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक - जीवराज जैन ग्रंथमाला, शोलापुर, प्रथम संस्करण, 1960

24. गोम्मटसार कर्मकाण्ड (हिन्दी अनुवाद सहित) : प्रकाशक - शा० रेवाशंकर जगजीवन जौहरी, आनरेरी व्यवस्थापक, श्री परमश्रुत प्रभावक जैन मण्डल, बम्बई, द्वितीयावृत्ति, वीर निर्वाण सं० 2453

25. गोम्मटसार जीवकाण्ड (हिन्दी अनुवाद सहित) : नेमिचन्द्राचार्य सिद्धांत चक्रवर्ती, द्वितीयावृत्ति, प्रकाशक - रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, वी० नि० सं० 2453

26. गोम्मटसार जीवकाण्ड (जीवतत्वप्रदीपिका और मन्द प्रबोधिका टीका सहित) : सम्पादक - गं० गजाधरलाल जैन न्यायतीर्थ और श्रीलाल जैन काव्यतीर्थ, प्रकाशक - गांधी हरी भाई देवकरण जैन ग्रंथमाला, बम्बई-4

27. जसहरचरिउ : अम्बादास चवरे, प्रकाशक - दि० जैन ग्रंथमाला, कारंजा, बरार 1931

28. जीवाजीवाभिगम सूत्र : प्रकाशक - देवचन्द्र लालाभाई जवेरी, सूरत।

29. जैन आचार : मोहनलाल मेहता, प्रकाशक - पा० वि० शोध संस्थान, वाराणसी, 1966

30. जैन तत्व मीमांसा : पं० फूलचन्द्र सिद्वांतशास्त्री, प्रकाशक - अशोक प्रकाशन मंदिर, भदेनीघाट वाराणसी

31. जैन दर्शन : डा० महेन्द्र कुमार जैन, सम्पादक और नियामक - पं० फुलचन्द्र शास्त्री तथा दरबारीलाल कोठिया, प्रकाशक - मंत्रि श्री गणेश प्रसाद वर्णी जैन ग्रंथमाला वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1966

32. जैन दर्शन : डा० मोहनलाल मेहता, प्रकाशक - सन्मति ज्ञान पोठ, आगरा,1959

33. जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान : मुनि श्री नगराज जी, सम्पादक - सोहनलाल प्रकाशक - रामलाल पुरी, संचालक, आत्माराम एण्ड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली-6, सन् 1959

34. जैन दर्शन-स्वरुप और विश्लेषणः देवेन्द्र मुनि शास्त्री, प्रकाशक - श्री तारक गुरु जैन ग्रंथमाला, शास्त्री सर्कल, उदयपुर (राजस्थान), प्रथम प्रवेश, 1975

35. जैन धर्म : सिद्धान्ताचार्य श्री कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक- मंत्री, साहित्य विभाग, भा० दि० जैन संघ, मथुरा, चतुर्थ संस्करण, 1966

36. जैन न्याय : कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक-भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली-६, प्रथम संस्करण 1966

37. जैन साइकालोजी : मोहनलाल मेहता, प्रकाशक-सोहनलाल जैन धर्म प्रचारक समिति, अमृतसर, सन् 1953

38. जैन साहित्य का इतिहास(पूर्व पीठिका) : पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक- श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, भदैनी, वाराणसी, प्रथम संस्करण, वीर, नि० सं० 2481

39. जैनिज्म दि ओल्डेट लिविंग रिलीजनः ज्योतिप्रसाद जैन, प्रकाशक - जैन कल्चर रि० सोसायटी, वाराणसी, 1951

40. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश (भाग १ से ४), जिनेन्द्र वर्णी, प्रकाशक - भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् 1970-73

41. ज्ञानार्णव (हिन्दी अनुवाद सहित) : शुभचन्द्राचार्य, प्रकाशक - श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल, रायचंद्र जैन शास्त्रमाला, जवेरी बाजार, बम्बई, वी० नि० सं० 2433

42. तत्वसंग्रह : कमलशील, सम्पादक - द्वारिकादास शास्त्री, प्रकाशक - बौद्ध भारती, वाराणसी, प्रथम संस्करण, 1968

43. तत्वानुशासन (हिन्दी भाषानुवाद सहित) : नागसेन सूरि, प्रकाशक - वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1963

44. तत्वार्थवार्तिक, भाग 1, 2 (हिन्दी सार सहित) : भट्ट अकलंकदेव, सम्पादक - प्रो० महेन्द्र कुमार जैन, प्रकाशक - भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथमावृत्ति, वी० नि० सं० 2499

45. तत्वार्थवृति (हिन्दी सार सहित) : श्रुतसागर, सम्पादक - महेन्द्र कुमार जैन, प्रकाशक - भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

46. तत्वार्थलोकावार्तिकम्: विद्यानन्दि, सम्पादक - पं० मनोहरलाल, प्रकाशक - गांधीनाथारंग जैन ग्रन्थमाला, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, वी० नि० सं० 2444

47. तत्वार्थसार : अमृतचन्द्र सूरि, सम्पादक - वंशीधर शास्त्री, भा० जै० सि० प्र० सं०, कलकत्ता, वीर सं० 2445

48. तत्वार्थसूत्र : सम्पादक पं० फूलचन्द्र जैन, प्रकाशक - श्री गणेशवर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी, वी० नि० सं० 2476

49. तत्वार्थसूत्र (हिन्दी भूमिका और व्याख्या सहित) : पं० सुखलाल संघवी, भारत जैन महामण्डल, वर्धा, प्रथम संस्करण, 1952

50. तत्वार्थसूत्र : उमास्वामी, सम्पादक - पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, प्रकाशक - भारतीय दिगम्बर जैन संघ, प्रथम आवृत्ति, वी० नि० सं० 2477

51. तत्वार्थाधिगमसूत्र सभाष्य (हिन्दी भाषानुवाद सहित) : प्रकाशक - श्री परमश्रुत प्रभावक जैन मण्डल, बम्बई -2 , सन् 1932

52. तिलोयपण्णत्ति (हिन्दी अनुवाद सहित) : यति वृषभ, प्रकाशक - जीवराजा जैन ग्रन्थमाला, प्रथम संस्करण, विक्रम सं० 1999

53. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्यपरम्परा: डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य, अ० भा० दि० जैन विद्वत्परिषद, प्रथम संस्करण, 1974

54. त्रिलोक सार: नेमिचन्द्र, प्रकाशक - जै० सा०, बम्बई, प्रथम संस्करण, 1918

55. दर्शनपाहुड : कुन्दकुन्दाचार्य, प्रकाशक - माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, प्रथम संस्करण, वि० सं० 1977

56. द्रव्यसंग्रह : नेमिचन्द्राचार्य, प्रकाशक - श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, वी० नि० सं० 2433

57. नायाधम्मकहाओ : सम्पादक - चन्द्र सागर सूरि, प्रकाशक-साहित्य प्रचारक समिति, बम्बई, सन् 1951

58. नियमसार : कुन्दकुन्दाचार्य, प्रकाशक - जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, हीराबाग बम्बई, 1916

59. पंचाध्यायी (पूर्वार्ध-उत्तरार्ध) : पं० राजमल्ल, सम्पादक - पं० राजमल्ल, सम्पादक - पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, वर्णी ग्रन्थमाला, वाराणसी

60. पंचास्तिकाय (तत्वदीपिका तात्पर्यवृत्ति-बालावबोध भाषा सहित) : कुन्दकुन्दाचार्य, प्रकाशक - रावजी भाई छगन भाग देसाई, आनरेरी व्यवस्थापक, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद्राजचन्द्र जैन शास्त्र माला, श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, आगास, तृतीयावृत्ति, वि० सं० 2025

61. पतंजलि योगदर्शन भाष्यः महर्षि व्यासदेव, प्रकाशक - श्री लक्ष्मी निवास चंडक, अजमेर, द्वितीय संस्करण, सन् 1961

62. परमात्मप्रकाशः (संस्कृत वृत्ति एवं हिन्दी भाषा टीका सहित) : योगोन्दु देव, सम्पादक - आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, प्रकाशक - परमश्रुत प्रभावक मण्डल, रायचन्द्र जैन शास्त्र माला, जौहरी बाजार, बम्बई-2, द्वितीय संस्करण, वि० सं० 2017

63. प्रज्ञापनासूत्र - पण्णवणासुयं : सम्पादक - मुनि श्री पुण्यविजय आदि, प्रकाशक - श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, सन्1969

64. प्रमाण-नय-निक्षेप प्रकाशः सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक-मन्त्री, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, अस्सी, वाराणसी-5, प्रथम संस्करण, वी० नि० संवत् 2417।

65. प्रवचनसार : कुन्दकुन्दाचार्य, सम्पादक - आ० ने० उपाध्ये, प्रकाशक- परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद्राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, आगास, तृतीय आवृत्ति, सन् 1964

66. प्रशमरतिप्रकरण (हिन्दी टीका सहित) : उमास्वाति, प्रकाशक - रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, प्रथम संस्करण, सन् 1935

67. भगवती आराधना : आचार्य शिवकोटि, सम्पादक - सखाराम दोशी, प्रकाशक - जीवराज जैन ग्रंथमाला, शीलापुर, प्रथम संस्करण, सन् 1935

68. भारतीय तत्व विद्या : पं० सुखलाल जी संघवी, प्रकाशक - रतिलाल दीपचन्द देसाई, मन्त्री ज्ञानोदय ट्रस्ट, अनेकान्त बिहार, अहमदाबाद, सन् 1919

69. मूलाचार (हिन्दी अनुंवाद सहित) : वट्टकेर, अनुवादक - मनोहरलाल, प्रकाशक - अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला, बम्बई, प्रथम संस्करण, सन् 1919

70. मोक्षमार्गप्रकाश : पं० टोड़रमल, सम्पादक - पं० लालबहादुर शास्त्री, प्रकाशक - मन्त्री साहित्य विभाग, भा० दि० जैन संघ, चौरासी, मथुरा, सन् 1948

71. रत्नकरण्ड श्रावकावार (प्रभाचन्द्राचार्यरचित संस्कृत टीका तथा हिन्दी रुपान्तर सहित): आचार्य समन्तभद्र, प्रकाशक- वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, प्रथम संस्करण, सन् 1972

72. लब्धिसारः कुन्दकुन्दाचार्य, प्रकाशक - जैन सिद्धान्त प्र० सं०, कलकत्ता, प्रथम संस्करण

73. वसुनन्दिश्रावकावार : आचार्य वसुनन्दि, सम्पादक- हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री, प्रकाशक - भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण

74. षट्खण्डागम (धवला टीका एवं हिन्दी अनुवाद सहित): भूतबलि पुष्पदन्त, प्रकाशक-जैन साहित्योद्धारक फंड कार्यालय अमरावती, प्रथम आवृत्ति, सन् 1939 - 1959

75. षड्दर्शन समच्चुय (गुणरत्नसूरिकृत तर्क रहस्य दीपिका, सोमदेवसूरिकृत लघुवृत्ति तथा अवचूर्णि सहित): आचार्य हरिभद्र सूरि, सम्पादक और अनुवादक - डा० महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य, प्रकाशक - भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, प्रथम आवृत्ति, सन् 1970

76. समयसार (आत्मख्याति-तात्पर्यवृत्ति-आत्मख्यातिभाषावचनिका टीका सहित): कुन्दकुन्दाचार्य, सम्पादक - पं० पन्नालाल जैन, प्रकाशक - रवजी भाई छगनभाई देसाई, परमश्रुत प्रभावक मंडल (श्रीमद्राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला), योरिया (गुजरात), द्वितीयावृत्ति, सन् 1974

77. समयसार (अंग्रेजी अनुवाद और प्रस्तावना सहित):प्रो० ए० चक्रवर्ती, प्रकाशक - भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम आवृत्ति, सन् 1950

78. समाधिशतक : पूज्यपादाचार्य, प्रकाशक - वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली, प्रथम संस्करण, वि० 2021

79. सर्वार्थसिद्धि : पूज्यपादाचार्य, संपादक एवं अनुवादक - पं० फूलचन्द्र सिद्धान्त-शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथमावृति, सन् 1955

80. सूत्रकृतांगसूत्र (शीलांककृत टीका एवं हिन्दी अनुवाद सहित) : प्रकाशक - जवाहिरलाल महाराज, राजकोट, प्रथम संस्करण, वि० सं० 1993

81. स्याद्वादमंजरीः मल्लिषेण सूरि, हिन्दी अनुवादक तथा संपादक - डा० जगदीशचन्द्र जैन, प्रकाशक - रवजी भाई छगनभाई देसाई, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, (श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला), तृतीय संस्करण, सन् 1970

पत्र - पत्रिकाएँ

अनेकान्त (त्रैमासिक) : प्रकाशक - वीर सेवा मन्दिर, 21 दरियागंज, नई दिल्ली-2

आत्मधर्म (मासिक) : प्रकाशक - श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़

जैन विश्व भारती अनुसन्धान पत्रिका, लाडनूँ (राजस्थान)

जैन सन्देश : प्रकाशक - भारतीय दिगम्बर जैन संघ, चौरासी, मथुरा

जैन सिद्धान्त भास्कर : प्रकाशक - श्रीदेवकुमार जैन ,औरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, आरा (बिहार)

तीर्थंकर : प्रकाशक - हीरा भैया प्रकाशन, 65 पत्रकार कालोनी, कनाड़िया मार्ग, इन्दौर (म० प्र०)

दार्शनिक त्रैमासिक : प्रकाशक : अखिल भारतीय दर्शन परिषद, जयपुर

प्रज्ञा : प्रकाशक - काशी हिन्दू विश्वविधालय, वाराणसी

वैशाली इन्स्टीट्यूट - रिसर्च बुलेटिन नं० 2, 1974

श्रमण (मासिक) : प्रकाशक - पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी - 5

सन्मति सन्देश (मासिक) : प्रकाशक - 535, गाँधीनगर, दिल्ली

रत्ना ऑफसेट्स लिमिटेड, कमच्छा, वाराणसी फोन : 392820